कविराजमल्ल-विरचित
अध्यात्मकमलमार्तण्ड
अनुवादक
दरबारीलाल 'न्यायाचार्य'
परमानन्द 'शास्त्री'

वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमालाका तृतीयपुष्प

श्रीमत्कविवर पण्डित राजमल्लविरचित

अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड

[अनुवादादि-सहित]

सम्पादक और अनुवादक

न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल 'कोठिया'

जैनदर्शनशास्त्री, न्यायतीर्थ

तथा

पण्डित परमानन्द जैन, शास्त्री

प्रस्तावना-लेखक

जुगलकिशोर मुख्तार, 'युगवीर'

प्रधान सम्पादक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'

प्रकाशक

वीर-सेवा-मन्दिर

सरसावा जि० सहारनपुर

प्रथमावृत्ति	आश्विन, वीरनिर्वाण सं० २४७०	मूल्य
१००० प्रति	विक्रम संवत् २००१	१॥) रु०
	सितम्बर १६४४	

ग्रन्थानुक्रम

रामा प्रिंटिंग वर्क्स, चावड़ी बाजार, देहली।

समर्पण

अनेक शिक्षा-संस्थाओंके जन्मदाता, उत्कट विद्याप्रेमी, परमोपकारी, प्रशममूर्ति, सहजवात्सल्यागार, गुणग्राही, जैनधर्मप्रसारक, सच्चारित्रनिधि, विद्वच्छिरोमणि, न्यायाचार्य पूज्यवर पण्डित गणेशप्रसादजी वर्णीके करकमलोंमें—उनके अनेक उपकारोंके उपलक्षमें—अध्यात्मकमलमार्तण्डका यह हिंदी अनुवाद अनुवादकों द्वारा सादर समर्पित

धन्यवाद

श्रीमान् बाबू राजकृष्ण हरिचन्द्र जी जैन (२३ दरियागंज) देहलीने इस ग्रन्थके प्रकाशनार्थ वीर-सेवा-मन्दिरको पूर्ण आर्थिक सहायता प्रदान की है। इस उदारता और श्रुतसेवाके लिये आपको हार्दिक धन्यवाद है।

प्रकाशक

प्रकाशकीय वक्तव्य

कितने ही अर्सेसे इस ग्रन्थरत्नको अनुवादके साथ प्रकाशित करनेका विचार चल रहा था; परन्तु अपने विद्वानोंको संस्थाके दूसरे कामोंसे यथेष्ट अवकाश न मिलसकनेके कारण अनुवाद-कार्य बराबर टलता रहा। आखिर दो विद्वानोंने दृढ़ताके साथ इस कार्यको अपने हाथोंमें लिया और उसके फलस्वरूप प्रस्तुत अनुवाद तैयार हुआ, जो तैयार होनेके बाद छपाई आदि की योग्य व्यवस्था न बन सकनेके कारण कुछ समय तक यों ही पड़ा रहा। अन्तको श्रीमान् **ला० जुगलकिशोरजी** जैन कागजी(मालिक फर्म धूमीमल धर्मदास) चावड़ी बाजार देहलीने संस्थाके पहलेसे आर्डरप्राप्त रुके पड़े हुए प्रकाशन-कार्योंको शीघ्र प्रकाशित करदेनेका आश्वासन दिया और उसके लिये इतनी तत्परता तथा उदारतासे काम लिया कि संस्थाके एक दो विद्वानों-को बराबर समयपर प्रूफरीडिंग आदि कार्योंको सम्पन्न करते हुए स्वकीय देख-रेखमें ग्रन्थोंको छपा लेनेके लिये बड़े आदर-सत्कार तथा कौटुम्बिक प्रेमके साथ अपने पास रक्खा और अभी तक रख रहे हैं। साथ ही उनके लिये प्रेस-आदिकी सब कुछ सुविधा तथा योग्य व्यवस्था करदी। उसीके फल-स्वरूप आज यह ग्रन्थ उन्हींके प्रेसमें मुद्रित होकर पाठकोंके हाथोंमें जा रहा है, कुछ ग्रन्थ इससे पहले प्रकाशित हो चुके हैं और कुछ प्रकाशित होनेवाले हैं। अतः इन सब ग्रन्थोंके सुन्दर प्रकाशनका प्रधान श्रेय उक्त सौजन्यमूर्ति उदारहृदय ला० जुगलकिशोरजी को प्राप्त है, और इसके लिये उन्हें जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह सब थोड़ा है। संस्था उनके इस धार्मिक सहयोग तथा उपकारके लिये सदा उनकी ऋणी रहेगी।

यह ग्रन्थ आश्विन मासके अन्तमें ही छपकर तय्यार होगया था, जैसा कि इसके टाइटिल पेजसे प्रकट है, जो उसी समय छप गया था। परन्तु प्रस्तावना उस वक्त तक तय्यार नहीं हो सकी थी। कार्तिकमें कलकत्ताके

'वीरशासन-महोत्सव'का भी कितना ही कार्य सामने आगया था, जिससे जरा भी अवकाश नहीं मिल सका। कलकत्तासे वापिसीमें कुछ यात्राका प्रोग्राम रहा और कुछ दूसरा काम छपने लगा। इसीसे प्रस्तावना देरसे छप सकी, इस विलम्बके कारण पाठकोंको जो प्रतीक्षाजन्य कष्ट उठाना पड़ा उसका हमें खेद है, और इस मजबूरीके लिये हम उनसे क्षमा चाहते हैं।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

प्रस्तावनाकी विषय-सूची

विषय पृष्ठ

प्रस्तावना

ग्रन्थ और उसकी उपयोगिता—

प्रस्तुत ग्रन्थ 'अध्यात्मकमल-मार्तण्ड' का विषय उसके नामसे ही प्रकट है—यह अध्यात्मरूप कमलोंको विकसित करनेवाला सूर्य है। इसमें आत्माके पूर्ण विकासको सिद्ध करनेके लिये मोक्ष तथा मोक्षमार्गका निरूपण करते हुए, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषयभूत जीवादि सप्ततत्त्वों और उनके अन्तर्गत भेद-प्रभेदों तथा द्रव्य-गुण-पर्यायोंके स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डाला गया है; और इस तरह अध्यात्म-विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रायः सभी प्रमुख प्रमेयोंको थोड़ेमें ही स्पष्ट करनेका सफल प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थकी लेखन-शैली बड़ी मार्मिक है, भाषा भी प्राञ्जल, मंजी हुई, जंची तुली सूत्ररूपिणी तथा प्रासादादि-गुण-विशिष्ट है। और यह सब ग्रन्थकारकी सुअभ्यस्त अनुभूत लेखनीका परिणाम है। ग्रन्थमें चार परिच्छेद और उनमें कुल १०१ पद्य हैं। इतनेसे स्वल्पक्षेत्रमें कितना अधिक प्रमेय (ज्ञेय-विषय) ऊहापोहके साथ भरा गया है और समयसारादि कितने महान ग्रन्थोंका सार खींचकर रक्खा गया है यह ग्रन्थके अध्ययनसे ही जाना जा सकता है अथवा उस विषयानुक्रमणिका परसे भी पाठक कुछ अनुभव कर सकते हैं जो ग्रन्थके शुरूमें लगाई गई है, और इससे उन्हें ग्रन्थकारकी अगाध विद्वत्ताके साथ उसकी रचना-चातुरी (निर्माण कौशल्य) का भी कितना ही पता चल सकता है। ऐसी हालतमें यदि यह कहा जाय कि यहाँ अध्यात्म-समुद्रको कूज़ेमें बन्द किया गया अथवा सागरको गागरमें भरा गया है तो शायद अत्युक्ति नहीं होगी। ग्रन्थके अन्तमें इस शास्त्रके सम्यक् अध्ययनका फल यह बतलाया

है कि उससे दर्शनमोह—तत्त्वज्ञान-विषयक भ्रान्ति—दूर होकर नियमसे सद्दृष्टि (सम्यग्दृष्टि) की प्राप्ति होती है। और यह सद्दृष्टि ही सारे आत्म-विकास अथवा मोक्ष-प्राप्तिकी मूल है। अतः इस परसे ग्रन्थकी उपयोगिता और भी स्पष्ट होजाती है।

इस ग्रन्थके आदि और अन्तमें मंगलाचरणादिरूपसे किसी आचार्य-विशेषका कोई स्मरण नहीं किया गया। आदिम और अन्तिम दोनों पद्योंमें 'समयसार-कलश' के रचयिता श्रीअमृतचन्द्रसूरिका अनुसरण करते हुए शुद्धचिद्रूप भावको नमस्कार किया गया है और ग्रन्थका कर्ता वास्तवमें शब्दों तथा अर्थोंको बतलाकर अपनेको उसके कर्तृत्वसे अलग किया है। जैसा कि दोनों ग्रन्थोंके निम्न पद्योंसे प्रकट है :—

"नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥ (आदिम)

"स्वशक्ति-संसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः॥(अन्तिम)

—समयसारकलश

"प्रणम्य भावं विशदं चिदात्मकं समस्ततत्वार्थविदं स्वभावतः।
प्रमाणसिद्धं नययुक्तिसंयुतं विमुक्तदोषावरणं समन्ततः॥(आदि०)

"अर्थाश्चाद्यवसानवर्जितनवः सिद्धाः स्वयं मानत-
स्तल्लक्ष्मप्रतिपादकाश्च शब्दा निष्पन्नरूपाः किल।
भो विज्ञाः परमार्थतः कृतिरियं शब्दार्थयोश्च स्वतो
नव्यं काव्यमिदं कृतं न विदुषा तद्राजमल्लेन हि ॥ (अन्तिम)

—अध्यात्मकमलमार्तण्ड

हाँ, १० वें पद्यमें गौतम (गणधर), वकग्रीव और अमृतचन्द्रसूरिका नामोल्लेख जरूर किया है और उन्हें जिनवर-कथित जीवाऽजीवादि-

तत्त्वोंके प्ररूपणमें प्रमाणरूपसे स्वीकृत किया है। जिनमें 'वक्रग्रीव' नाम यहाँ कुन्दकुन्दाचार्यका वाचक है; क्योंकि कुछ पट्टावलियोंमें कुन्दकुन्दाचार्यके पाँच नामोंका उल्लेख करते हुए वक्रग्रीव भी एक नाम दिया है। उन्हीं परसे इस नामको अपनाया गया जान पड़ता है, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे अभी विवादापन्न चल रहा है।

ग्रन्थकर्ता कविराजमल्ल और उनके दूसरे ग्रन्थ—

इस ग्रन्थके कर्ता कवि राजमल्ल अथवा पण्डित राजमल्ल हैं जो 'कवि' विशेषणसे खास तौर पर विभूषित थे और जो जैन समाजमें एक बहुत बड़े विद्वान, सत्कवि एवं ग्रन्थकार हो गये हैं। इस ग्रन्थमें यद्यपि ग्रन्थ-रचनाका कोई समय नहीं दिया है, फिर भी कविवरके दूसरे दो ग्रन्थोंमें रचनाकाल दिया हुआ है और उससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि आप विक्रमकी १७ वीं शताब्दीमें उस समय हुए हैं जब कि अकबर बादशाह भारतका शासन करता था। अकबर बादशाहके सम्बन्धमें कुछ ज्ञातव्य बातोंका उल्लेख भी आपने अपने ग्रन्थोंमें किया है और दूसरी भी कुछ ऐतिहासिक घटनाओंका पता उनसे चलता है, जिन्हें यथावसर आगे प्रकट किया जायगा। इस ग्रन्थकी एक प्राचीन प्रतिका उल्लेख पिटर्सन साहबकी संस्कृत ग्रन्थोंके अनुसन्धान-विषयक ४र्थी रिपोर्टमें नं० १३६५ पर पाया जाता है, जो संवत् १६६३ वैशाख सुदि १३ शनिवारकी लिखी हुई है*, और इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ विक्रम सं० १६६३ से पहले बन चुका था। कितने पहले? यह अभी अनुसन्धानाधीन है।

* "इति श्रीमदध्यात्मकमलमार्तण्डाभिधाने शास्त्रे सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकश्चतुर्थः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥४॥ ग्रंथाग्रसंख्या २०५

संवत १६६३ वर्षे वैसाख सुदि १३ शनिवासरे भट्टारक श्री कुमारसेणि तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गोइलगोत्रे साहु पीथु तद्भार्या मृगाही तत्पुत्र पंडित छाजमल अध्यात्मकमलकी प्रति लिखापितं। लिखितं पंडित मोहिलु ॥"

कविवरने कुल कितने ग्रन्थोंकी रचना की यह तो किसीको मालूम नहीं; परन्तु अभी तक आपकी मौलिक कृतियोंके रूपमें प्रस्तुत ग्रन्थके अलावा चार ग्रन्थोंका ही और पता चला है, जिनके नाम हैं—१ जम्बूस्वामिचरित, २ लाटीसंहिता, ३ छन्दोविद्या (पिङ्गल), और ४ पञ्चाध्यायी। इनमेंसे छन्दोविद्याको छोड़कर शेष सब ग्रन्थ प्रकाशित भी होचुके हैं।

एक छठा ग्रन्थ आपका और भी बतलाया जाता है और वह है 'समयसारकलशकी हिन्दी टीका' जिसे ब्र० शीतलप्रसादजीने आजसे कोई १४ वर्ष पूर्व सूरतसे इस रूपमें प्रकाशित कराया है कि—पहले अमृतचन्द्र आचार्यका संस्कृत कलश, तदनन्तर 'खंडान्वय-सहित अर्थ' के रूपमें यह टीका, इसके बाद अपना 'भावार्थ' और फिर पं० बनारसीदासजीके समयसार नाटक' के हिन्दी पद्य। इस टीकाकी भाषा पुरानी जयपुरी (ढुंढारी) अथवा मारवाड़ी-गुजराती जैसी हिन्दी है, टीकाके आरम्भ तथा अन्तमें कोई मंगलात्मक अथवा समाप्ति-सूचक हिन्दी पद्य नहीं है, जिसकी पिंगलमें आये हुए हिन्दी पद्योंके साथ तुलना की जाती, और न टीकाकी भाषाके अनुरूप ऐसी कोई सन्धि ही देखनेमें आती है, जिससे टीकाकारके नामादिकका कुछ विशेष परिचय मिलता। कविवर प० बनारसीदासजीने अपने हिन्दी समयसार नाटकमें अमृतचन्द्रीय संस्कृत नाटककी एक बालबोध सुगम टीकाका उल्लेख किया है और उसे पांडे (पंडित) राजमल्लजी कृत लिखा है। साथ ही, पांडे राजमल्लजीको समयसार नाटकका मर्मी बतलाते हुए, यह भी प्रकट किया है कि उनकी इस टीका परसे आगरा नगरमें बोध-वचनिका फैली, काल पाकर अध्यात्म-शैली अथवा मंडली जुड़ी और उस मंडलीके पं० रूपचन्दजी आदि पाँच प्रमुख विद्वानोंकी प्रेरणाको पाकर उन्होंने उक्त राजमल्लीय टीकाके आधारपर अपनी यह हिन्दी छन्दोबद्ध रचना की है और उसे आश्विन सुदि १३ सं० १६९३ को रविवारके दिन पूरा किया है। इस कथनके कुछ पद्य इस प्रकार हैं:—

"पांडे राजमल्ल जिनधर्मी, समयसार नाटकके मर्मी।
तिन्हें गरंथकी टीका कीनी, बालबोध सुगम कर दीनी ॥२३॥
इहविधि बोध-वचनिका फैली, समै पाइ अध्यातम शैली।
प्रगटी जगमाहीं जिनवानी, घरघर नाटक-कथा बखानी ॥२४॥
नगर आगरे मांहि विख्याता, कारण पाइ भये बहु ज्ञाता।
पंच पुरुष अति निपुन प्रवीने, निसदिन ज्ञानकथा-रसभीने ॥२५॥

× × × ×

नाटक समयसार हित जीका, सुगमरूप राजमल टीका।
कवितबद्ध रचना जो होई, भाखा ग्रन्थ पढ़ै सब कोई ॥३५॥
तब बनारसी मनमें आनी, कीजे तो प्रगटै जिनवानी।
पंच पुरुषकी आज्ञा लीनी, कवितबंधकी रचना कीनी ॥३६॥
सोरहसै तिराणवे बीते, आसुमास सितपच्छ वितीते।
तेरसी रविवार प्रवीना, ता दिन ग्रंथ समापत कीना ॥३७॥"

टीकाको देखनेसे मालूम होता है कि वह अच्छी मार्मिक है, साथ ही सरल तथा सुबोध भी है। और हमारे प्रस्तुत ग्रन्थकार एक बहुत बड़े अनुभवी तथा अध्यात्म-विषयके मार्मिक विद्वान हुए हैं; जैसाकि उनके इस अध्यात्मकमलमार्तण्डसे ही स्पष्ट है, जिसमें समयसारके कितनेही कलशोंका अनुसरण उनके मर्मको अच्छी तरहसे व्यक्त करते हुए किया गया है, जिसका एक नमूना तृतीय कलशको लक्ष्यमें रखकर लिखा गया ग्रन्थका चौथा पद्य है (देखो पृष्ठ ३) और दूसरा नमूना ऊपर दी हुई आदि-अन्तके पद्योंकी तुलना है। टीकामें उस प्रकारकी विद्वत्ता एवं तर्क-शैलीकी झलक जरूर है, और इसलिये बहुत संभव है कि ये ही कवि राजमल्लजी इस टीकाके भी कर्ता हों; परन्तु टीकाकी भाषा कुछ सन्देह जरूर उत्पन्न करती है—छंदोविद्याके हिन्दी पद्योंकी भाषाके साथ उसका पूरा मेल नहीं मिलता। हो

सकता है कि यह कविवरकी पहलेकी रचना हो तथा गद्य और पद्यकी उनकी भाषामें भी अन्तर हो। कुछ भी हो, अपनी भाषा परसे यह आगराकी बनी हुई तो मालूम नहीं होती—मारवाड़ आदिकी तरफके किसी स्थानकी बनी हुई जान पड़ती है। कब बनी? यह कुछ निश्चितरूपसे नहीं कहा जासकता। यदि ये ही कवि राजमल्लजी इसके कर्ता हों तो यह होसकता है कि इसकी रचना जम्बूस्वामिचरितकी रचना गतसंवत् १६३२से पहले हुई हो; क्योंकि जम्बूस्वामिचरित पर उन विचारों एवं संस्कारोंकी छाया पड़ी हुई जान पड़ती है जिनका पूर्वमें समयसारकी टीका लिखते समय उत्पन्न होना स्वाभाविक है और जिसका नमूना आगे उक्त चरितके परिचयके अवसर पर दिया जायगा। यह टीका किसके लिये अथवा किनको लक्ष्य करके लिखी गई, यह भी निश्चितरूपसे नहीं कहा जासकता। क्योंकि टीकामें ऐसा कोई उल्लेख नहीं है, जब कि कविवरके दूसरे ग्रन्थोंमें इस प्रकारका उल्लेख देखा जाता है कि किस ग्रन्थका निर्माण किसके निमित्त अथवा किसकी प्रेरणाको पाकर हुआ है, और जिसे आगे यथावसर प्रकट किया जायगा। यहाँ इस टीकाका प्रारम्भिक भाग जो **'नमः समयसाराय'** इस मंगल कलशके अनन्तर उसकी व्याख्याके आद्य अंशके रूपमें है नीचे दिया जाता है, जिससे पाठकोंको टीकाकी भाषा और उसकी लेखन-पद्धतिका कुछ अनुभव प्राप्त हो सके:—

"**टीका—भावाय नमः** भाव शब्दैं कहिजै पदार्थ। पदार्थ संज्ञा छै सत्वस्वरूपकहुं। तिहतें यहु अर्थु ठहरायो जु कोई सास्वतो वस्तुरूप तीहैं म्हांको नमस्कारु। सो वस्तुरूप किसौ छै। **चित्स्वभावाय** चित् कहिजै चेतना सोई छै स्वभावाय कहतां स्वभाव सर्वस्व जिहिकौं तिहिकौं म्हांको नमस्कारु। इहिं विशेषण कहतां दोइ समाधान हौंहि छै। एक तौ भाव कहतां पदार्थ, जे पदार्थ केई चेतन छै, केई अचेतन छै, तिहिं मांहै चेतन पदार्थ नमस्कारु करिवा योग्य छै, इसौ अर्थु ऊपजै छै। दूजौ समाधान इसौ जु यद्यपि वस्तुको गुण वस्तु ही माहैं गर्भित छै, वस्तु गुण एक ही सत्त्व छै

तथापि भेदु उपजाइ कहवा जोग्य छै। विशेषण कहिवा पाखैं† वस्तुको ज्ञानु उपजै नहीं। पुनः किं विशिष्टाय भावाय और किसौ छै भाव। **समयसाराय** समय कहतां यद्यपि समय शब्दका बहुत अर्थ छै तथापि एनैं अवसर समय शब्दैं समान्यपनैं जीवादि सकल पदार्थ जानिबा। तिहिं मांहि जु कोई साराय कहतां सार छै। सार कहतां उपादेय छै जीव वस्तु, तिहिं कौं म्हांको नमस्कारु। इहिं विशेषणकौ यहु भाव छै—सार पनो जानि चेतना पदार्थ कौं नमस्कारु प्रमाण राख्यो। असारपनौं जानि अचेतन पदार्थकौं नमस्कारु निषेध्यौ। आगे कोई वितर्क करसी जु सब ही पदार्थ आपना आपना गुणपर्याय विराजमान छै, स्वाधीन छै, कोई किस ही कौ आधीन नहीं, जीव पदार्थकौं सारपनौं क्यौं घटै छै। तिहिको समाधान करिवाकहुं दोइ विशेषण कह्या।"‡

पंचाध्यायी और लाटीसंहिता—

पञ्चाध्यायीका लाटीसंहिताके साथ घनिष्ट सम्बन्ध है, अतः यहाँ दोनोंका एक साथ परिचय कराया जाता है।

कविवरकी कृतियोंमें जिस पंचाध्यायी ग्रन्थको सर्वप्रधान स्थान प्राप्त है और जिसे स्वयं ग्रन्थकारने ग्रन्थ-प्रतिज्ञामें **ग्रन्थराज** लिखा है वह आजसे कोई ३८–३९ वर्ष पहले प्रायः अप्रसिद्ध था—कोल्हापुर, अजमेर आदिके कुछ थोड़ेसे ही शास्त्रभण्डारोंमें पाया जाता था और बहुत ही कम विद्वान् उसके अस्तित्वादिसे परिचित थे। शक संवत् १८२८ (ई० सन् १९०६) में अकलूज (शोलापुर) निवासी गांधी नाथारंगजीने इसे कोल्हापुरके 'जैनेन्द्र मुद्रणालय' में छपाकर बिना ग्रन्थकर्ताके नाम और बिना किसी प्रस्तावनाके ही प्रकाशित किया। तभीसे यह ग्रन्थ विद्वानोंके

---

† विनाः। ‡ सूरतकी उक्त मुद्रित प्रतिमें भाषादिका कुछ परिवर्तन देखनेमें आया, अतः यह अंश 'नयामन्दिर' देहलीकी सं० १७५५ द्वितीय ज्येष्ठ वदि ४ की लिखी हुई प्रतिपरसे उद्धृत किया गया है।

विशेष परिचयमें आया, विद्वद्वर्य पं० गोपालदासजीने इसे अपने शिष्यों को पढ़ाया, उनके एक शिष्य पं० मक्खनलालजीने इसपर भाषाटीका लिखकर उसे वीरनिर्वाण सं० २४४४ (सन् १९१८) में प्रकट किया, और इस तरह पर समाजमें इसका प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ा। अपने नाम परसे और ग्रन्थके आदिम मङ्गलपद्यमें प्रयुक्त हुए 'पञ्चाध्यायावयवं' इस विशेषणपद परसे भी यह ग्रन्थ पाँच अध्यायोंका समुदाय जान पड़ता है। परन्तु इस वक्त जितना उपलब्ध है उसे अधिकसे अधिक डेढ़ अध्यायके करीब कह सकते हैं, और यह भी हो सकता है कि वह एक अध्याय भी पूरा न हो। क्योंकि ग्रन्थमें अध्याय-विभागको लिए हुए कोई सन्धि नहीं है और न पाँचों अध्यायोंके नामोंको ही कहीं सूचित किया है। शुरूमें 'द्रव्यसामान्यनिरूपण' नामका एक प्रकरण प्रायः ७७० श्लोकोंमें समाप्त किया गया है, उसे यदि एक अध्याय माना जाय तो यह ग्रन्थ डेढ़ अध्यायके करीब है और यदि अध्यायका एक अंश (प्रकरण) माना जाय तो इसे एक अध्यायसे भी कम समझना चाहिए। बहुत करके वह प्रकरण अध्यायका एक अंश ही जान पड़ता है, दूसरा 'द्रव्यविशेषनिरूपण' नामका अंश उसके आगे प्रारंभ किया गया है, जो ११४५ श्लोकोंके करीब होनेपर भी अधूरा है। परन्तु वह आद्य प्रकरण एक अंश हो या पूरा अध्याय हो, कुछ भी सही, इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृत ग्रन्थ अधूरा है—उसमें पाँच अध्याय नहीं हैं—और इसका कारण ग्रन्थकारका उसे पूरा न कर सकना ही जान पड़ता है। मालूम होता है ग्रन्थकार महोदय इसे लिखते हुए अकालमें ही कालके गालमें चले गये हैं, उनके हाथों इस ग्रन्थको पूरा होनेका अवसर ही प्राप्त नहीं होसका, और इसीसे यह ग्रन्थ अपनी वर्तमान स्थितिमें पाया जाता है—उसपर ग्रन्थकारका नाम तक भी उपलब्ध नहीं होता।

ग्रन्थके प्रकाशन-समयसे ही जनता इस बातके जाननेके लिए बराबर उत्कंठित रही कि यह ग्रन्थ कौनसे आचार्य अथवा विद्वान्‌का बनाया

हुआ है और कब बना है। परन्तु विद्वान् लोग १८-१९ वर्ष तक भी इस विषयका कोई ठीक निर्णय नहीं कर सके और इसलिए जनता बराबर अंधेरेमें ही चलती रही। ग्रन्थकी प्रौढ़ता, युक्तिवादिता और विषय-प्रतिपादन-कुशलताको देखते हुए कुछ विद्वानोंका इस विषयमें तब ऐसा खयाल होगया था कि यह ग्रन्थ शायद पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि ग्रंथोंके तथा समयसारादिकी टीकाओंके कर्त्ता श्रीअमृतचन्द्राचार्यका बनाया हुआ हो। पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने तो इसपर अपना पूरा विश्वास ही प्रकट कर दिया था और पंचाध्यायी-भाषाटीकाकी अपनी भूमिकामें लिख दिया था कि "पंचाध्यायीके कर्त्ता अनेकान्त-प्रधानी आचार्यवर्य अमृतचन्द्रसूरि ही हैं।" परन्तु इसके समर्थनमें मात्र अनेकान्तशैलीकी प्रधानता और कुछ विषय तथा शब्दोंकी समानताकी जो बात कही गई उससे कुछ भी सन्तोष नहीं होता था; क्योंकि मूलग्रन्थमें कुछ बातें ऐसी पाई जाती हैं जो इस प्रकारकी कल्पनाके विरुद्ध पड़ती हैं। दूसरे, उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंकी कृतियोंमें उस प्रकारकी साधारण समानताओंका होना कोई अस्वाभाविक भी नहीं है। कवि राजमल्लने तो अपने अध्यात्मकमलमार्तण्ड (पद्य नं० १०) में अमृतचन्द्रसूरिके तत्त्वकथनका अभिनन्दन किया है और उनका अनुसरण करते हुए कितने ही पद्य उनके समयसार-कलशोंके अनुरूप तक रक्खे हैं। अस्तु।

पं० मक्खनलालजीकी टीकाके प्रकट होनेसे कोई ६ वर्ष बाद अर्थात् आजसे कोई २० वर्ष पहले सन् १९२४ में मुझे दिल्ली पंचायती मन्दिरके शास्त्र-भण्डारसे, बा० पन्नालालजी अग्रवालकी कृपा-द्वारा, 'लाटीसंहिता' नामक एक अश्रुतपूर्व ग्रन्थरत्नकी प्राप्ति हुई, जो १६०० के करीब श्लोकसंख्याको लिये हुए श्रावकाचार-विषय पर कवि राजमल्लजीकी खास कृति है और जिसका पंचाध्यायीके साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर मुझे यह बिलकुल स्पष्ट होगया कि पञ्चाध्यायी भी कवि राजमल्लजीकी ही कृति है। इस खोजको करके मुझे उस समय बड़ी प्रसन्नता हुई—

क्योंकि मैं भी उससे पहले ग्रन्थके कर्तृत्व-विषयक अन्धकारमें भटक रहा था। और इसलिये मैंने **'कविराजमल्ल और पंचाध्यायी'** नामक लेखमें अपनी खोजको निबद्ध करके उसे 'वीर' पत्र (वर्ष ३ अंक १२–१३)के द्वारा विद्वानोंके सामने रक्खा। सहृदय एवं विचारशील विद्वानोंने उसका अभिनन्दन किया—उसे अपनाया, और तभीसे विद्वज्जनता यह समझने लगी कि पंचाध्यायी कविराजमल्लजीकी कृति है। आज तक उस खोजपूर्ण लेखका कहींसे भी कोई प्रतिवाद अथवा विरोध नहीं हुआ। प्रत्युत इसके, पं० नाथूरामजी प्रेमीने माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें लाटीसंहिताको प्रकाशित करते हुए उसके साथ उसे भी उद्धृत किया, और जम्बूस्वामिचरितके प्रकाशनावसरपर उसकी भूमिकामें श्री जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए० ने साफ तौर पर यह घोषणा की कि—

"आजसे अनेक वर्ष पूर्व जब स्व० पं० गोपालदासजी वरैयाकी कृपासे जैन विद्वानोंमें पंचाध्यायी नामक ग्रंथके पठन-पाठनका प्रचार हुआ, उस समय लोगोंकी यह मान्यता (धारणा?)होगई थी कि यह ग्रन्थ अमृतचन्द्र-सूरिकी रचना है। परन्तु लाटीसंहिताके प्रकाशमें आनेपर यह धारणा सर्वथा निर्मूल सिद्ध हुई। और अब तो यह और भी निश्चयपूर्वक कहा जासकता है कि पंचाध्यायी, लाटीसंहिता, जम्बूस्वामिचरित और अध्यात्मकमल-मार्त्तण्ड ये चारों ही कृतियाँ एक ही विद्वान् पं० राजमल्लके हाथकी हैं।"

परन्तु यह देखकर बड़ा खेद होता है कि मेरे उक्त लेखके कोई आठ वर्ष बाद सन् १९३२ में जब पं० देवकीनन्दनजीने पंचाध्यायीकी अपनी टीकाको कारंजा-आश्रमसे प्रकाशित कराया तब उन्होंने यह जानते-मानते और पत्रों द्वारा मेरी उस कर्तृत्व-विषयक खोजको स्वीकार करते हुए तथा यह आश्वासन देते हुए भी कि उसके अनुरूप ही ग्रंथकर्ताका नाम टीकाके साथ प्रकाशित किया जायगा, अपनी उस टीकाको बिना ग्रन्थ-कर्ताके नामके ही प्रकाशित कर दिया! एकाएक किसीके कहने-सुननेका उनपर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा जान पड़ता है कि उन्होंने न तो मेरे उक्त

लेखके अनुकूल या प्रतिकूल कुछ लिखनेकी हिम्मत की, न अपने सहपाठी पं० मक्खनलालजीके मतको ही अपनाया और न ग्रन्थकर्ताके नामादि-विषयमें अपनी ओरसे दो शब्दोंका लिखना अथवा समाजमें चली हुई सामयिक चर्चाका उल्लेख करना ही अपना कोई कर्तव्य समझा, और इसलिये इतने बड़े ग्रन्थकी मात्र एक पेजकी ऐसी भूमिका लिखकर ही ग्रन्थको प्रकाशित कर दिया जिसमें ग्रन्थकर्ताके नामादिक-परिचय-विषयको स्पर्श तक नहीं किया गया !! और इस तरह अपने पाठकोंको ग्रन्थकर्ताके विषयमें घोर अन्धकारमें ही रखना उचित समझा है !!! यहाँ पर मैं आपके एक पत्र ता० ३ जनवरी सन् १९३१ की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर देना उचित समझता हूँ जो आपने मुझे ४००श्लोकोंकी टीका छपजानेपर लिखा था और जिसकी ये पंक्तियाँ प्रकृत विषयसे खास सम्बन्ध रखती हैं :—

"४०० श्लोक छप चुके हैं पूर्वार्ध पूर्ण होते ही श्रीमानकी सेवामें भेजनेका विचार है।

मेरा मत निश्चय होगया है कि ग्रन्थ श्रीविद्वद्वर्य राजमल्लजी कृत ही है—सो मैं भूमिकामें लिखनेवाला हूँ।"

इन पंक्तियोंमें दिये हुए निश्चय और आश्वासन परसे पाठक मेरे उक्त खेद-व्यक्तीकरणके औचित्यको भले प्रकार समझ सकते हैं।

पञ्चाध्यायीकी कर्तृत्व-विषयक खोज—

अब पाठक यह जाननेके लिये जरूर उत्सुक होंगे कि वह युक्तिवाद अथवा खोज क्या है जिसके आधार पर पञ्चाध्यायीको कविराजमल्लकृत सिद्ध किया गया है, और उसका जान लेना इसलिये भी आवश्यक है कि अब तक पंचाध्यायीके जितने भी संस्करण प्रकाशित हुए हैं वे सब ग्रन्थकर्ताके नामसे शून्य हैं और इसलिये उनपरसे पाठकोंको ग्रन्थके कर्तृत्व विषयमें कुछ भ्रम होसकता है। अतः उसको यहाँपर संक्षेपमें ही प्रकट किया जाता है, और इससे पाठकोंको दोनों ग्रन्थों (पंचाध्यायी और

लाटीसंहिता) का यथेष्ट परिचय भी मिल जायगा, जिसको देना भी यहाँ इष्ट है :—

(१) पंचाध्यायीमें, सम्यक्त्वके प्रशम-संवेगादि चार गुणोंका कथन करते हुए, नीचे लिखी एक गाथा ग्रन्थकार-द्वारा उद्धृत पाई जाती है:—

संवेओ णिव्वेओ णिंदण गरूहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥

यह गाथा, जिसमें सम्यक्त्वके संवेगादिक अष्टगुणोंका उल्लेख है, वसुनन्दिश्रावकाचारके सम्यक्त्व प्रकरणकी गाथा है—वहाँ मूलरूपसे नं० ४६ पर दर्ज है—और इस श्रावकाचारके कर्त्ता आचार्य वसुनन्दी विक्रमकी १२वीं शताब्दीके अन्तिम भागमें हुए हैं। ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि पंचाध्यायी विक्रमकी १२वीं शताब्दीसे बादकी बनी हुई है, और इसलिए वह उन अमृतचन्द्राचार्यकी कृति नहीं हो सकती जो कि वसुनन्दीसे बहुत पहले हो गये हैं। अमृतचन्द्राचार्यके 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' ग्रन्थका तो 'येनांशेन सुदृष्टिः' नामका एक पद्य भी इस ग्रन्थमें उद्धृत है, जिसे ग्रन्थकारने अपने कथनकी प्रमाणतामें 'उक्तं च' रूपसे दिया है और इससे भी यह बात और ज्यादा पुष्ट होती है कि प्रकृत ग्रन्थ अमृतचन्द्राचार्यका बनाया हुआ नहीं है।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने अपनी भाषा टीकामें उक्त गाथाको 'क्षेपक' बतलाया है और उसके लिये कोई हेतु या प्रमाण नहीं दिया, सिर्फ फुटनोटमें इतना ही लिख दिया है कि "यह गाथा पंचाध्यायीमें क्षेपक रूपसे आई है।" इस फुटनोटको देखकर बड़ा ही खेद होता है और समझमें नहीं आता कि उनके इस लिखनेका क्या रहस्य है !! यह गाथा पंचाध्यायीमें किसी तरह पर भी क्षेपक—बादको मिलाई हुई—नहीं हो सकती; क्योंकि ग्रन्थकारने अगले ही पद्यमें उसके उद्धरणको स्वयं स्वीकार तथा घोषित किया है, और वह पद्य इस प्रकार है:—

उक्तगाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादि-चतुष्टयम् ।
नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥४६७॥

इस पद्यपरसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ग्रन्थकारने उक्त गाथाको स्वयं उद्धृत करके उसे अपने ग्रन्थका एक अंग बनाया है और उसके विषयका स्पष्टीकरण करने अथवा अपने कथनके साथ उसके कथनका सामंजस्य स्थापित करनेका यहींसे उपक्रम किया है—अगले कई पद्योंमें इसी विषयकी चर्चा की गई है। फिर उक्त गाथाको क्षेपक कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता।

(२) पंचाध्यायीमें ग्रन्थकर्ताने अपनेको जगह जगह 'कवि' लिखा है—'कवि' रूपसे ही अपना नामोल्लेख किया है, जैसाकि आगे चलकर (नं० ५ से) पाठकोंको मालूम होगा, और अमृतचन्द्रसूरि अपने ग्रन्थोंमें कहीं भी अपनेको 'कवि' नहीं लिखते हैं। इससे भी यह जाना जाता है कि पंचाध्यायी अमृतचन्द्राचार्यकी कृति नहीं है। अस्तु।

यह तो हुआ अमृतचन्द्राचार्यके द्वारा प्रकृत ग्रन्थके न रचे जाने आदि-विषयक सामान्य विचार, अब ग्रन्थके वास्तविक कर्त्ता और उसके निर्माण-समय-सम्बन्धी विशेष विचारको लीजिए।

(३) पंचाध्यायीकी जब लाटीसंहिताके साथ तुलनात्मक-दृष्टिसे आन्तरिक जाँच (परीक्षा)की जाती है तो यह मालूम होता है कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही विद्वानकी रचनाएं हैं। दोनोंकी कथनशैली, लेखन-प्रणाली अथवा रचना-पद्धति एक-जैसी है। ऊहापोहका ढंग, पदविन्यास और साहित्य भी दोनोंका समान है। पंचाध्यायीमें जिस प्रकार किञ्च, ननु, अथ, अपि, अर्थात्, अयमर्थः, अयं भावः, एवं, नैवं, मैवं, नोह्यं, न चाशंक्यं, चेत्, नो चेत्, यतः,ततः, अत्र,तत्र,तद्यथा इत्यादि शब्दोंके प्रचुर प्रयोग के साथ विषयका प्रतिपादन किया गया है, उसी तरह वह लाटीसंहितामें भी पाया जाता है। संक्षेपमें, दोनों एक ही लेखनी, एक ही टाइप और

एक ही टकसालके जान पड़ते हैं। इसके सिवाय, दोनों ग्रन्थोंमें सैंकड़ों पद्य भी प्रायः एक ही पाये जाते हैं और उनका खुलासा इस प्रकार है:—

(क) लाटीसंहिताके तीसरे सर्गमें, सम्यग्दृष्टिके स्वरूपका निरूपण करते हुए, 'ननूल्लेखः किमेतावान्' इत्यादि पद्य नं० ३४ (मुद्रितमें २७) से 'तद्यथा सुखदुःखादि' इस पद्य नं० ६० (मुद्रितमें ५४) तक जो २७ पद्य दिये हैं वे वे ही हैं जो पंचाध्यायी टीकाके उत्तरार्धमें नं० ३७२ से ३९९ तक और मूल प्रतिमें नं० ३७४ से ४०१ तक दर्ज हैं। इसी तरह ६१ (मुद्रितमें ५५) वें नम्बरसे १२६ (मुद्रितमें ११६) वें नं० तकके ६६ पद्य भी प्रायः वे ही हैं जो सटीक प्रतिमें ४०१ से ४७६ तक और मूल प्रतिमें ४१२ से ४७९ तक पाये जाते हैं। हाँ, 'अथानुरागशब्दस्य' नामका पद्य नं० ४३५ (४३७) पंचाध्यायी में अधिक है। हो सकता है कि वह लेखकोंसे छूट गया हो, लाटीसंहिताके निर्म्माणसमय उसकी रचना ही न हुई हो या ग्रन्थकारने उसे लाटीसंहितामें देनेकी जरूरत ही न समझी हो। इनके सिवाय, इसी सर्गमें, नं० १६१ (मुद्रितमें १५२) से १८२ (मुद्रितमें १७३) तकके २२ पद्य और भी हैं जो पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) के ७२१ (७२५) से ७४२ (७४६) नम्बर तकके पद्योंके साथ एकता रखते हैं।

(ख) लाटीसंहिताका चौथा सर्ग, जो आशीर्वादके बाद 'ननु सुदर्शन-स्यैतत्'पद्यसे प्रारम्भ होकर 'उक्तः प्रभावनांगोऽपि' पद्य पर समाप्त होता है, ३२३ पद्योंके करीबका है। इनमेंसे नीचे लिखे दो पद्योंको छोड़-कर शेष सभी पद्य पंचाध्यायीके उत्तरार्ध (द्वितीय प्रकरण)में नं० ४७७ (४८०) से ७२० (७२४) और ७४३ (७४७) से ८२१ (८२५) तक प्रायः ज्योंके त्यों पाये जाते हैं—

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२६८ (२७५)

> येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
> येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२६६ (२७५)

ये दोनों पद्य 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' ग्रन्थके पद्य हैं और 'येनांशेन सुदृष्टिः' नामके उस पद्यके बाद 'उक्तं च' रूपसे ही उद्धृत किये गये हैं जो पंचाध्यायीमें भी नं० ७७४ (७७८) पर उद्धृत है। मालूम होता है ये दोनों पद्य पंचाध्यायीकी प्रतियोंमें छूट गये हैं। अन्यथा, प्रकरणको देखते हुए इनका भी उक्त पद्यके साथमें उद्धृत किया जाना उचित था। इसी तरह पंचाध्यायीमें भी 'यथा प्रज्वलितो वह्निः' और 'यतः सिद्धं प्रमाणाद्वै' ये दो पद्य (नं० ५२८, ५५७) इन पद्योंके सिलसिलेमें बढ़े हुए हैं। सम्भव है कि वे लाटीसंहिताकी प्रतियोंमें छूट गये हों।

इस तरह पर ४३८ पद्य दोनों ग्रन्थोंमें समान हैं—अथवा यों कहना चाहिए कि लाटीसंहिताका एक चौथाईसे भी अधिक भाग पंचाध्यायीके साथ एक-वाक्यता रखता है। ये सब पद्य दूसरे पद्योंके मध्यमें जिस स्थितिको लिये हुए हैं उसपरसे यह नहीं कहा जासकता कि वे 'क्षेपक' हैं या एक ग्रन्थकारने दूसरे ग्रन्थकारकी कृतिपरसे उन्हें चुराकर या उठाकर और अपने बनाकर रक्खा है। लाटीसंहिताके कर्त्ताने तो अपनी रचनाको 'अनुच्छिष्ट' और 'नवीन' सूचित भी किया है* और उससे यह पाया जाता है कि लाटीसंहितामें थोड़ेसे 'उक्तंच' पद्योंको छोड़कर

---

* यथा :—

> सत्यं धर्मरसायनो यदि तदा मां शिक्षयोपक्रमात् ।
> सारोद्धारमिवाप्यनुग्रहतया स्वल्पाक्षरं सारवत् ॥
> आर्षं चापि मृदूक्तिभिः स्फुटमनुच्छिष्टं नवीनं महः
> न्निर्माणं परिधेहि संघनृपतिर्भूयोऽप्यवादीदिति ॥७६॥
> श्रुत्वेत्यादिवचः शतं मृदुरुचिर्निर्दिष्टनामा कविः ।
> नेतुं यावदमोघतामभिमतं सोपक्रमायोद्यतः ॥

शेष पद्य किसी दूसरे ग्रन्थकारकी कृतिपरसे नकल नहीं किये गये हैं। ऐसी हालतमें पद्योंकी यह समानता भी दोनों ग्रन्थोंके एक कर्तृत्वको घोषित करती है। साथ ही, लाटीसंहिताके निर्माणकी प्रथमताको भी कुछ बतलाती है।

इन समान पद्योंमेंसे कोई-कोई पद्य कहीं कुछ पाठ-भेदको भी लिये हुए हैं और उससे अधिकांशमें लेखकोंकी लीलाका अनुभव होनेके साथ-साथ पंचाध्यायीके कितने ही पद्योंका संशोधन भी होजाता है, जिनकी अशुद्धियोंको तीन प्रतियों परसे सुधारनेका यत्न करने पर भी पं० मक्खनलालजी शास्त्री सुधार नहीं सके और इसलिए उन्हें गलतरूपमें ही उनकी टीका प्रस्तुत करनी पड़ी। इन पद्योंमेंसे कुछ पद्य नमूनेके तौरपर, लाटीसंहितामें दिये हुए पाठभेदको कोष्ठकमें दिखलाते हुए, नीचे दिये जाते हैं:—

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः।
नात्राणमंशतोऽप्यत्र कुतस्तद्धिय(द्धीर्म)हात्मनः ॥५३५॥

मार्गो(र्गं) मोक्षस्य चारित्रं तत्सद्भक्ति(सद्दृग्ज्ञप्ति)पुरःसरम्।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥६६७॥

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बर-पंचकः।
नामतः श्रावकः क्षान्तो (ख्यातो) नान्यथापि तथा गृही ॥७२६॥

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादि-पीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
दीनेभ्यो दया(ऽभय)दानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥७३१॥

नित्ये नैमित्तिके चैवं(त्य)जिनबिम्बमहोत्सवे।
शैथिल्यं नैव कर्त्तव्यं तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः ॥७३६॥

अथातद्धर्मणः पक्षे (अर्थान्नाधर्मिणः पक्षो) नावद्यस्य मनागपि।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोष(गोप)णात् ॥८१४॥

इन पद्योंपरसे विज्ञ पाठक सहजमें ही पंचाध्यायीके प्रचलित अथवा मुद्रित पाठकी अशुद्धियोंका कुछ अनुभव कर सकते हैं और साथ ही उक्त हिन्दी टीकाको देखकर यह भी मालूम कर सकते हैं कि इन अशुद्ध पाठोंकी वजहसे उसमें क्या कुछ गड़बड़ी हुई है।

किसी किसी पद्यका पाठ-भेद स्वयं ग्रन्थकर्त्ताका किया हुआ भी जान पड़ता है, जिसका एक नमूना इस प्रकार है:—

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसंगाद्-गुरुलक्षणम्।
शेषं विशेषतो वक्ष्ये (ज्ञेयं) तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥७१४॥

यहां 'वक्ष्ये' की जगह 'ज्ञेयं' पदका प्रयोग लाटीसंहिताके अनुकूल जान पड़ता है; क्योंकि लाटीसंहितामें इसके बाद गुरुका कोई विशेष स्वरूप नहीं बतलाया गया, जिसके कथनकी 'वक्ष्ये' पदके द्वारा पंचाध्यायीमें प्रतिज्ञा की गई है, और न इस पदमें किसी हृदयस्थ या करस्थ दूसरे ग्रन्थका नाम ही लिया है, जिसके साथ उस स्वरूप-कथनकी प्रतिज्ञा-शृङ्खलाको जोड़ा जा सकता। ऐसी हालतमें यहाँ प्रत्येक ग्रन्थका अपना पाठ उसके अनुकूल है, और इसलिये दोनोंको एक ग्रन्थकर्त्ताकी ही कृति समझना चाहिए।

(ग) लाटीसंहिताकी स्वतंत्र कथन-शैलीका स्पष्ट आभास करानेके लिये यहाँ नमूनेके तौरपर उसके कुछ ऐसे पद्य भी उद्धृत किये जाते हैं जो पंचाध्यायीमें नहीं हैं:—

ननु चा प्रतिमा प्रोक्ता दर्शनाख्या तदादिमा।
जैनानां साऽस्ति सर्वेषामर्थादव्रतिनामपि ॥१४४॥
मैवं सति तथा तुर्यगुणस्थानस्य शून्यता।
नूनं दृक्प्रतिमा यस्माद् गुणे पञ्चमके मता ॥१४५॥

—तृतीय सर्ग

ननु व्रतप्रतिमायामेतत्सामायिकं व्रतं ।
तदेवात्र तृतीयायां प्रतिमायां तु किं पुनः ॥४॥
सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रसिद्धः परमागमे ।
सातिचारं तु तत्र स्यादत्रातीचारवर्जितम् ॥५॥
किञ्च तत्र त्रिकालस्य नियमो नास्ति देहिनां ।
अत्र त्रिकालनियमो मुनेर्मूलगुणादिवत् ॥६॥
तत्र हेतुवशात्कापि कुर्यात्कुर्यान्न वा कचित् ।
सातिचार-व्रतत्वाद्वा तथापि न व्रतक्षतिः ॥७॥
अत्रावश्यं त्रिकालेऽपि कार्यं सामायिकं च यत् ।
अन्यथा व्रतहानिः स्यादतीचारस्य का कथा ॥८॥
अन्यत्राऽप्येवमित्यादि यावदेकादशस्थितिः ।
व्रतान्येव विशिष्यन्ते नार्थादर्थान्तरं कचित् ॥९॥
शोभतेऽतीव संस्कारात्साक्षादाकरजो मणिः ।
संस्कृतानि व्रतान्येव निर्जरा-हेतवस्तथा ॥१०॥

—सप्तम सर्ग ।

सारी लाटीसंहिता इसी प्रकारके ऊहापोहात्मक पद्योंसे भरी हुई है । यहाँ विस्तार-भयसे सिर्फ थोड़े ही पद्य उद्धृत किये गये हैं । इन पद्योंपरसे विज्ञ पाठक लाटीसंहिताकी कथनशैली और उसके साहित्य आदिका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये बहुत कुछ समर्थ हो सकते हैं, और पंचाध्यायी-के साथ तुलना करनेपर उन्हें यह स्पष्ट मालूम होसकता है कि दोनों ग्रन्थ एक ही लेखनीसे निकले हुए हैं और उनका टाइप भी एक है ।

(४) पंचाध्यायीके शुरूमें मंगलाचरण और ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञा-रूपसे जो चार पद्य दिये हैं वे इस प्रकार हैंः—

पञ्चाध्यायावयं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात् ।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥१॥
शेषानपि तीर्थंकराननन्तसिद्धानहं नमामि समम् ।
धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान्मुनीश्वरान्वन्दे ॥२॥
जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनं सुवन्द्यमनवद्यम् ।
यदपि च कुमतारातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥३॥
इति वन्दितपञ्चगुरुः कृतमङ्गल—सत्क्रियः स एष पुनः ।
नाम्ना पञ्चाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम ॥४॥

इन पद्योंमें क्रमशः महावीर तीर्थंकर, शेष तीर्थंकर, अनन्त सिद्ध और आचार्य, उपाध्याय तथा साधुपदसे विशिष्ट मुनीश्वरोंकी वन्दना करके जैन-शासनका जयघोष किया है। और फिर अपनी इस वन्दना-क्रियाको मङ्गल-सत्क्रिया बतलाते हुए ग्रथका नामोल्लेख-पूर्वक उसके रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है। ये ही सब बातें इसी क्रम तथा आशयको लिये हुए, शब्दों अथवा विशेषणादि-पदोंके कुछ हेर-फेर या कमी-बेशीके साथ लाटीसंहिताके शुरू-में भी पाई जाती हैं। यथा—

ज्ञानानन्दात्मानं नमामि तीर्थंकरं महावीरम् ।
यच्चिति विश्वमशेषं व्यदीपि नक्षत्रमेकमिव नभसि ॥१॥
नमामि शेषानपि तीर्थनायकाननन्तबोधादिचतुष्टयात्मनः ।
स्मृतं यदीयं किल नामभेषजं भवेद्धि विघ्नौघगदोपशान्तये ॥२॥
प्रदुष्टकर्म्माष्टकविप्रमुक्तकांस्तदत्ययेे चाष्टगुणान्वितानिह ।
ममाश्रये सिद्धगणानपि स्फुटं सिद्धेः पथस्तत्पदमिच्छतां नृणाम् ॥
त्रयीं नमस्यां जिनलिङ्गधारिणां सतां मुनीनामुभयोपयोगिनां ।
पदत्रयं धारयतां विशेषसात्पदं मुनेरद्वितयादिहार्थतः ॥४॥

जयन्ति जैनाः कवयश्च तद्गिरः प्रवर्तिता यैर्वृषमार्गदेशना।
विनिर्जितजाड्यमिहासुधारिणां तमस्तमोरेरिव रश्मिभिर्महत्॥५॥
इतीव सन्मङ्गलसत्क्रियां दधन्नधीयमानोन्वयसात्परंपराम्।
उपज्ञलाटीमिति संहितां कविश्चिकीर्षति श्रावकसद्व्रतस्थितिम्॥६॥

इन मङ्गलपद्योंकी पंचाध्यायीके उक्त मङ्गलपद्योंके साथ, मूल प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे, कितनी अधिक समानता है इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। दोनों ग्रन्थोंके मङ्गलाचरणोंके स्तुति-पात्र ही एक नहीं बल्कि उनका क्रम भी एक है। साथ ही 'महावीरं', 'शेषानपि तीर्थकरान्'—'शेषानपि तीर्थनायकान्', 'अनन्तसिद्धान्'—'सिद्ध-गणान्', 'जीयात्'—'जयन्ति', 'इति', 'कृतमङ्गलसत्क्रियः'-'सन्मङ्गल-सत्क्रियां दधन्', 'चिकीर्षितं',-'चिकीर्षति' ये पद भी उक्त समानताको और ज्यादा समुद्योतित कर रहे हैं। इसी तरह पंचाध्यायीका 'आत्म-वशात्' रचा जाना और लाटी संहिताका 'उपज्ञा' (स्वोपज्ञा) होना भी दोनों एक ही आशयको सूचित करते हैं। अस्तु; मङ्गल पद्योंकी इस स्थितिसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि दोनों ग्रन्थ एक ही विद्वान्-के रचे हुए हैं।

(५) इसके सिवाय, पंचाध्यायीमें ग्रन्थकारने अपनेको 'कवि' नामसे उल्लेखित किया है—जगह जगह 'कवि' लिखा है। यथाः—

अत्रान्तरङ्गहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः॥५॥

तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाऽधुना।
कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः॥ (उ०) १६०॥

उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसंगात्संगतोंशतः।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्ताराद्वा करिष्यति॥७७५॥

लाटीसंहितामें भी ग्रन्थकार महोदय अपनेको 'कवि' नामसे नामाङ्कित करते और 'कवि' लिखते हैं। जैसा कि ऊपर उद्धृत किये हुए पद्य नं० ६, नं० ७७५ (यह पद्य लाटीसंहिताके चतुर्थसर्गमें नं० २७०—मुद्रित २७६—पर दर्ज है) और नीचे लिखे पद्यों परसे प्रकट है—

तत्र स्थितः किल करोति कविः कवित्वम् ।

तद्वर्धतां मयि गुणं जिनशासनं च ॥१—८६(मु० ८७)॥

प्रोक्तं सूत्रानुसारेण यथाणुव्रतपंचकं ।

गुणव्रतत्रयं वक्तुमुत्सहेदधुना कविः ॥६-११७ (मु० १०१)

इसी तरह और भी कितने ही स्थानोंपर आपका 'कवि' नामसे उल्लेख पाया जाता है, कहीं कहीं असली नामके साथ कवि-विशेषण भी जुड़ा हुआ मिलता है, यथा—'सानन्दमास्ते कविराजमल्लः'(५६)। और इन सब उल्लेखोंसे यह जाना जाता है कि लाटीसंहिताके कर्त्ताकी कविरूपसे बहुत प्रसिद्धि थी, 'कवि' उनका उपनाम अथवा पदविशेष था और वे अकेले (एकमात्र) उसीके उल्लेख-द्वारा भी अपना नामोल्लेख किया करते थे—'जम्बूस्वामिचरित' और छन्दोविद्यामें भी 'कवि' नामसे उल्लेख है। इसीसे पंचाध्यायीमें जो अभी पूरी नहीं हो पाई थी, अकेले 'कवि' नामसे ही आपका नामोल्लेख मिलता है। नामकी इस समानतासे भी दोनों ग्रन्थ एक कविकी दो कृतियाँ मालूम होते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि कवि राजमल्ल एक बहुत बड़े विद्वान् और सत्कवि होगये हैं। कविके लिए जो यह कहा गया है कि 'वह नये नये सन्दर्भ—नई नई मौलिक रचनाएं—तय्यार करनेमें समर्थ होना चाहिये†' यह बात उनमें ज़रूर थी और ये दोनों ग्रन्थ उसके ज्वलन्त उदाहरण जान पड़ते हैं। इन ग्रन्थोंकी लेखन-प्रणाली और कथन-शैली अपने

---

† "कविर्नूतनसंदर्भः।"

ढंगकी एक ही है। लाटीसंहिताकी सन्धियोंमें‡ राजमल्लको '**स्याद्वादानवद्य-गद्य-पद्य-विद्याविशारद-विद्वन्मणि**' लिखा है और ये दोनों कृतियाँ उनके इस विशेषणके बहुत कुछ अनुकूल जान पड़ती हैं।—लाटीसंहिताको देखकर यह नहीं कहा जासकता कि पंचाध्यायी उसके कर्त्तासे भिन्न किसी और ऊंचे दर्जेके विद्वान्की रचना है। अस्तु।

मैं समझता हूँ ऊपरके इन सब उल्लेखों, प्रमाणों अथवा कथन-समुच्चयपरसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि **पंचाध्यायी और लाटीसंहिता दोनों एक ही विद्वान् की दो विशिष्ट रचनाएँ हैं,** जिनमेंसे एक पूरी और दूसरी अधूरी है। पूरी रचना लाटीसंहिता है और उसमें उसके कर्त्ताका नाम बहुत स्पष्टरूपसे '**कविराजमल्ल**' दिया है। इसलिए पंचाध्यायीको भी 'कविराजमल्ल' की कृति समझना चाहिए, और यह बात बिलकुल ही सुनिश्चित जान पड़ती है—इसमें सन्देहके लिये स्थान नहीं।

ग्रन्थ-रचनाका समय-सम्बन्धादिक—

लाटीसंहिताको कविराजमल्लने वि० सं० १६४१ में आश्विनशुक्ला दशमी रविवारके दिन बनाकर समाप्त किया है। जैसा कि उसकी प्रशस्तिके निम्न पद्योंसे प्रकट है :—

श्रीनृपति(नृप)विक्रमादित्यराज्ये परिणते सति।
सहैकचत्वारिंशद्भिरब्दानां शतषोडश ॥ २ ॥

---

‡ एक सन्धि नमूनेके तौर पर इस प्रकार है :—

"**इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारद-विद्वन्मणि-राजमल्लविरचितायां श्रावकाचाराऽपरनाम-लाटीसंहितायां साधुदूदात्मज-फामन-मनःसरोजारविंद-विकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां कथामुखवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः।**"

तत्राप्यऽश्विनीमासे सितपक्षे शुभान्विते।
दशम्यां दाशरथेः(थेश्च)शोभने रविवासरे ॥ ३ ॥

पंचाध्यायी भी इसी समयके करीबकी—विक्रमकी १७वीं शताब्दीके मध्यकालकी—लिखी हुई है। उसका प्रारम्भ या तो लाटीसंहितासे कुछ पहले होगया था और उसे बीचमें रोककर लाटीसंहिता लिखी गई है और या लाटीसंहिताको लिखनेके बाद ही, सत्सहायको पाकर, कविके हृदयमें उसके रचनेका भाव उत्पन्न हुआ है—अर्थात्, यह विचार पैदा हुआ है कि उसे अब इसी टाइप अथवा शैलीका एक ऐसा ग्रन्थराज भी लिखना चाहिए जिसमें यथाशक्ति और यथावश्यकता जैनधर्मका प्रायः सारा सार खींचकर रख दिया जाय। उसीके परिणामस्वरूप पंचाध्यायीका प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है। और उसे 'ग्रन्थराज' यह उपनाम भी ग्रन्थके आदिम मंगलाचरणमें ही दे दिया गया है। परन्तु पंचाध्यायीका प्रारम्भ पहले माननेकी हालतमें यह मानना कुछ आपत्तिजनक जरूर मालूम होता है कि, उसमें उन सभी पद्योंकी रचना भी पहले ही से हो चुकी थी जो लाटीसंहितामें भी समानरूपसे पाये जाते हैं और इसलिये उन्हें पंचाध्यायी परसे उठाकर लाटीसंहितामें रक्खा गया है। क्योंकि इसके विरुद्ध पंचाध्यायीमें एक पद्य निम्न प्रकारसे उपलब्ध होता हैः—

ननु तद्द(मुद)र्शनस्यैतल्लक्षणं स्यादशेषतः।
किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥४७७॥

यह पद्य लाटीसंहितामें भी चतुर्थ सर्गके शुरूमें कोष्ठकोल्लेखित पाठ-भेदके साथ पाया जाता है। इसमें 'तद्वदाद्य नः' इस वाक्यखण्डके द्वारा यह पूछा गया है कि, सम्यग्दर्शनका यदि कोई और भी लक्षण है तो 'उसे आज हमें बताइये'। 'वद अद्य नः' इन शब्दोंका पंचाध्यायीके साथ कोई सम्बन्ध स्थिर नहीं होता—यही मालूम नहीं होता कि यहाँ 'नः' (हमें) शब्दका वाच्य कौनसा व्यक्ति-विशेष है; क्योंकि

पंचाध्यायी किसी व्यक्ति-विशेषके प्रश्न अथवा प्रार्थनापर नहीं लिखी गई है। प्रत्युत इसके, लाटीसंहितामें उक्त शब्दोंका सम्बन्ध सुस्पष्ट है। लाटी-संहिता अग्रवाल-वंशावतंस मंगलगोत्री साहु दूदाके पुत्र संघाधिपति 'फामन' नामके एक धनिक विद्वानके लिए, उसके प्रश्न तथा प्रार्थनापर, लिखी गई है, जिसका स्पष्ट उल्लेख संहिताके 'कथामुखवर्णन' नामके प्रथम सर्गमें पाया जाता है। फामनको संहितामें जगह जगह आशीर्वाद भी दिया गया है। और उसे महामति, उपशाग्रणी, साम्यधर्मनिरत, धर्मकथारसिक तथा संघाधिनाथ जैसे विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है। साथ ही, यह भी लिखा है कि वैराटके बड़े बड़े मुखियाओं अथवा सरदारोंमें भी उसका वचन महत्सूत्र (आगमवाक्य)के समान माना जाता है। उक्त पद्यसे पहले भी, चतुर्थसर्गका प्रारम्भ करते हुए, आशीर्वादका एक पद्य पाया जाता है और वह इस प्रकार है:—

इदमिदं तव भो वणिजांपते ! भवतु भावितभावसुदर्शनं।

विदितफामननाममहामते ! रसिक ! धर्मकथासु यथार्थतः ॥१॥

इससे साफ जाना जाता है कि इस पद्यमें जिस व्यक्ति-विशेषको सम्बोधन करके आर्शीवाद दिया गया है वही अगले पद्यका प्रश्नकर्ता और उसमें प्रयुक्त हुए 'नः' पदका वाच्य है। लाटीसंहितामें प्रश्नकर्ता फामनके लिये 'नः' पदका प्रयोग किया गया है, यह बात नीचे लिखे पद्यसे और भी स्पष्ट हो जाती है।

सामान्यादवगम्य धर्मफलितं ज्ञातुं विशेषादपि।

भक्त्या यस्तमपीपृच्छद् वृषरुचिर्नाम्नाऽधुना फामनः ॥

धर्मत्वं किमथास्य हेतुरथ किं साक्षात् फलं तत्त्वतः।

स्वामित्वं किमथेति सूरिरवदत्सर्वं प्रणुन्नः कविः ॥७७॥७८॥

ऐसी हालतमें नहीं कहा जा जकता कि उक्त पद्य नं० ४७७ पंचाध्यायीसे उठाकर लाटीसंहितामें रक्खा गया है; बल्कि लाटीसंहितासे उठा-

कर वह पंचाध्ययीमें रक्खा हुआ जान पड़ता है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि उक्त पद्यके उस वाक्य-खण्डमें समुचित परिवर्तनका होना या तो छूट गया और या ग्रन्थके अभी निर्माणाधीन होनेके कारण उस वक्त तक उसकी ज़रूरत ही नहीं समझी गई। और इसलिए पंचाध्यायीका प्रारम्भ यदि पहले हुआ हो तो यह कहना चाहिए कि उसकी रचना प्रायः उसी हद तक हो पाई थी जहाँसे आगे लाटीसंहितामें पाये जानेवाले समान पद्यों-का उसमें प्रारंभ होता है। अन्यथा, लाटीसंहिताके कथन-सम्बन्धादिको देखते हुए, यह मानना ही ज्यादा अच्छा और अधिक संभावित जान पड़ता है कि पंचाध्यायीका लिखा जाना लाटीसंहिताके बाद प्रारंभ हुआ है। परन्तु पंचाध्यायीका प्रारंभ पहले हुआ हो या पीछे, इसमें सन्देह नहीं कि वह लाटीसंहिताके बाद प्रकाशमें आई है और उस वक्त जनताके सामने रक्खी गई है जब कि कविमहोदयकी इहलोकयात्रा प्रायः समाप्त हो चुकी थी। यही वजह है कि उसमें किसी सन्धि, अध्याय, प्रकरणादिके या ग्रन्थकर्त्ताके नामादिककी योजना नहीं हो सकी, और वह निर्माणाधीन स्थितिमें ही जनताको उपलब्ध हुई है। मालूम नहीं ग्रन्थकर्ता महोदय इसमें और किन किन विषयोंका किस हद तक समावेश करना चाहते थे और उन्होंने अपने इस ग्रन्थराजके पांच महाविभागों—अध्यायों—के क्या क्या नाम सोचे थे।

हाँ, ग्रन्थमें विशेष कथनकी बड़ी बड़ी प्रतिज्ञाओंको लिए हुए कुछ सूचना-वाक्य ज़रूर पाये जाते हैं, जिनके द्वारा इस प्रकारकी सूचना की गई है कि यह कथन तो यहाँ प्रसंगवश दिग्दर्शनमात्रके रूपमें अथवा आंशिकरूपमें किया गया है, इस विषयका विस्तृत विशेष कथन यथावकाश (यथा स्थल) आगे किया जायगा। ऐसे कुछ वाक्य इस प्रकार हैं:—

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसंगाद्गुरुलक्षणम्।
शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात्॥७१४॥ *

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र प्रसंगाद्वा गृहिव्रतम् ।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात् सावकाशात् सविस्तरम् ॥७४२॥
उक्तं धर्मस्वरूपोऽयं प्रसंगात्संगतोंशतः ।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥७७५॥

इनमेंसे प्रथम पद्यमें 'गुरुलक्षण', दूसरेमें 'गृहिव्रत' और तीसरेमें 'धर्मस्वरूप'के विशेष कथनकी प्रतिज्ञा की गई है, जिसकी पूर्ति ग्रन्थके उपलब्ध भागमें कहीं भी देखनेमें नहीं आती। और इसलिये मालूम होता है कि ग्रन्थकार महोदय सचमुच ही, आद्य पद्यकी सूचनानुसार, इसे 'ग्रन्थ-राज' ही बनाना चाहते थे और इसमें जैन आचार, विचार एवं सिद्धान्त-सम्बन्धी प्रायः सभी विषयोंका पूर्वापर-पर्यालोचन-पूर्वक* विस्तारके साथ समावेश कर देना चाहते थे। काश, यह ग्रन्थ कहीं पूरा होगया होता तो सिद्धान्त-विषय और जैन-आचार-विचारको समझनेके लिये अधिकांश ग्रन्थोंको देखनेकी जरूरत ही न रहती—यह अकेला ही पचासों ग्रन्थोंकी जरूरतको पूरा कर देता। निःसंदेह, ऐसे ग्रन्थरत्नका पूरा न हो सकना समाजका बड़ा ही दुर्भाग्य है।

कविवरसे बहुत समय पहले विक्रमकी ९वीं शताब्दीमें भगवज्जिनसेनाचार्यने भी 'महापुराण' नामसे एक इससे भी बहुत बड़े ग्रन्थराजका आयोजन किया था और उसमें वे सारी ही जिनवाणीका—उसके चारों ही अनुयोगोंकी मूल बातोंका—संक्षेप तथा विस्तारके साथ समावेश कर देना चाहते थे और उसे इस रूपमें प्रस्तुत कर देनेकी इच्छा रखते थे जिसकी बावत यह कहा जासके कि 'यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्' अर्थात् जो इसमें नहीं वह कहीं भी नहीं। परन्तु महापुराणके अन्तर्गत २४

---

* कविवर पूर्वापरके पर्यालोचनमें दक्ष थे, यह बात स्वयं उनके निम्न वाक्यसे भी जानी जाती है—

"कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः ॥उत्त० १६०॥

पुराणोंमेंसे वे 'आदिपुराण'को भी पूरा नहीं कर सके !—प्रस्तावित ग्रन्थका २४वाँ भाग भी नही लिख सके !! जिन्होंने आदिपुराणको देखा है वे समझ सकते हैं कि आचार्यमहोदयने अपनी प्रतिभा और प्राञ्जल लेखनी-से कितने कितने विषयोंको किस ढंगसे उसमें समाविष्ट किया है। बादको उनके शिष्य गुणभद्राचार्यने आदिपुराणको पूरा जरूर किया है और शेष २३ पुराण भी लिखे हैं, परन्तु वे सब मिलकर भी अधूरे आदि-पुराणके बराबर नहीं, और फिर उनमें वह बात कहाँ जो आदिपुराणमें पाई जाती है। वे तो प्रायः ग्रन्थका अधूरापन दूर करने और सामान्य विषयोंकी साधारण जानकारी करानेके लिये लिखे गये हैं। सच पूछिये तो महापुराणके मन्सूबे श्रीजिनसेनके साथ ही गये! अक्सर कागज पत्रोंमें वे बातें नोट की हुई रहती ही नहीं जो हृदयमें स्थित होती हैं। इसीसे गुणभद्राचार्य महापुराणको उस रूपमें पूरा न कर सके जिस रूपमें कि भगवज्जिनसेन उसे पूरा करना चाहते थे। और इसलिये एक अनुभवी एवं प्रतिभाशाली साहित्य-कलाकारके एकाएक उठ जानेसे समाजको बहुत बड़ी हानि पहुँचती है—उसका एक प्रकारसे बड़ा खजाना ही उससे छिन जाता है। यही बात कवि राजमल्लजीके अचानक निधनसे हुई! अस्तु। इसी प्रकारका एक आयोजन कविवर राजमल्लजीके बाद भी किया गया है और वह विद्वद्वर पं० टोडरमलजीका हिन्दी "मोक्षमार्गप्रकाश" ग्रन्थ है। इसे भी ग्रन्थराजका रूप दिया जानेको था, परन्तु पंडितजी अकालमें काल-कवलित होगये और इसे पूरा नहीं कर सके! इस तरह ये समाजके दुर्भाग्यके तीन खास नमूने हैं। देखिये, समाजका यह दुर्भाग्य कब समाप्त होता है और कब इन तीनों प्रकारके प्रस्तावित ग्रन्थराजोंमेंसे किसी भी एक उत्तम ग्रन्थराजकी साङ्गोपाङ्ग रचनाका योग भिड़ता है और समाज को उससे लाभान्वित होनेका सुनहरी अवसर मिलता है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतलादेना चाहता हूँ कि लाटीसंहिताकी रचना जिस प्रकार साहु फामन नामके एक धनिक एवं धर्मात्मा सज्जनकी

प्रार्थनापर और मुख्यतया उसके लिये हुई वैसे पंचाध्यायीकी रचना किसी व्यक्तिविशेषकी प्रार्थना पर अथवा किसी व्यक्तिविशेषको लक्ष्यमें रखकर उसके निमित्त नहीं हुई। उसे ग्रन्थकारमहोदयने उस समयकी आवश्यकताओंको महसूस (अनुभूत) करके और अपने अनुभवोंसे सर्व-साधारणको लाभान्वित करनेकी शुभभावनाको लेकर स्वयं अपनी स्वतन्त्र रुचिसे लिखा है और उसमें प्रधान कारण उनकी सर्वोपकारिणी बुद्धि है, जैसा कि मंगलाचरण और ग्रन्थप्रतिज्ञाके अनन्तर ग्रन्थ-निमित्तको सूचित करनेवाले स्वयं कविवरके निम्न दो पद्योंसे प्रकट है :—

"अत्रान्तरङ्गहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥५॥
सर्वोऽपि जीवलोकः श्रोतुंकामो वृषं हि सुगमोक्त्या।
विज्ञप्तौ तस्य कृते तत्राऽयमुपक्रमः श्रेयान् ॥६॥

पहले पद्यमें ग्रन्थके हेतु (निमित्त)का निर्देश करके दूसरे पद्यमें यह बतलाया गया है कि सारा विश्व धर्मको सुगम उक्तियों द्वारा सुनना चाहता है, उसीके लिये यह सब ग्रन्थरचनाका प्रयत्न है। इसमें सन्देह नहीं कि कविवर महोदय अपने इस प्रयत्नमें बहुत कुछ सफल हुए हैं और उन्होंने यथासाध्य बड़ी ही सुगम उक्तियों द्वारा इस ग्रन्थमें धर्मको समझनेके साधनोंको जुटाया है।

ग्रन्थ-निर्माणका स्थान-सम्बन्धादिक—

कवि राजमल्लने लाटीसंहिताका निर्माण 'वैराट' नगरके जिनालयमें बैठकर किया है। यह वैराटनगर वही जान पड़ता है जिसे 'बैराट' भी कहते हैं और जो जयपुरसे करीब ४० मीलके फासले पर है। किसी समय यह विराट अथवा मत्स्यदेशकी राजधानी थी और यहीं पर पाण्डवोंका गुप्तवेशमें रहना कहा जाता है। 'भीमकी डूँगरी' आदि कुछ स्थानोंको

लोग अब भी उसी वक्तके बतलाते हैं*। लाटीसंहितामें कविने, इस नगरकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हुए, अपने समयका कितना ही वर्णन दिया है और उससे मालूम होता है कि यह नगर उस समय बड़ा ही समृद्धिशाली एवं शोभासम्पन्न था। यहाँ कोई दरिद्री नजर नहीं आता था, प्रजामें परस्पर असूया अथवा ईर्षाद्वेषादिके वशवर्ती होकर छिद्रान्वेषणका भाव नहीं था, वह परचक्रके भयसे रहित थी, सब लोग खुशहाल नीरोग तथा धर्मात्मा थे, एक दूसरेका कोई कण्टक नहीं था, चोरी वगैरहके अपराध नहीं होते थे और इससे नगरके लोग दंडका नाम भी नहीं जानते थे। अकबर बादशाहका उस समय राज्य था और वही इस नगरका स्वामी, भोक्ता तथा प्रभु था। नगर कोट-खाईसे युक्त था और उसकी पर्वतमालामें कितनी ही ताँबेकी खानें थीं जिनसे उस वक्त ताँबा निकाला जाता था और उसे गलागलूकर निकालनेका एक बड़ा भारी कारखाना भी कोटके बाहर, पासमें ही, दक्षिण दिशाकी ओर स्थित था‡। नगरमें ऊंचे स्थानपर एक सुन्दर प्रोत्तुंग जिनालय-दिगम्बर जैन मन्दिर-था, जिसमें यज्ञस्थंभ और समृद्ध कोष्ठों (कोठों) को लिए हुए चार शालाएं थीं, उनके मध्यमें वेदी और वेदीके ऊपर उत्तम शिखर था। कविने इस जिनालयको वैराट नगरके सिरका मुकुट बतलाया है। साथ ही यह सूचित किया है कि वह नाना प्रकारकी रंगबिरंगी चित्रावली-

---

* लाटीसंहितामें भी पाण्डवोंके इन परंपरागत चिन्होंके अस्तित्वको सूचित किया है। यथा—

क्रीडादिशृंगेषु च पाण्डवानामद्यापि चाश्चर्यपरंपराङ्काः।
या काश्चिदालोक्य बलावलिप्ता दर्पं विमुञ्चन्ति महाबलाऽपि।७५।

‡ वैराट और उसके आसपासका प्रदेश आज भी धातुके मैलसे आच्छादित है, ऐसा डा० भाण्डारकरने अपनी एक रिपोर्टमें प्रकट किया है, जिसका नाम अगले फुटनोटमें दिया गया है।

से सुशोभित है और उसमें निर्ग्रन्थ जैनसाधु भी रहते हैं। इसी मन्दिरमें बैठकर कविने लाटीसंहिताकी रचना की है। बहुत सम्भव है कि पंचाध्यायी भी यहीं लिखी गई हो; क्योंकि यह स्थान कविको बहुत पसन्द आया है, जैसाकि आगेके एक फुटनोटसे मालूम होगा और यहाँसे अन्यत्र कविका जाना पाया नहीं जाता। अस्तु, यह ऊंचा अद्भुत जिनमन्दिर साधु दूदाके ज्येष्ठपुत्र और फामनके बड़े भाई 'न्योता' ने निर्माण कराया था और इसके द्वारा एक प्रकारसे अपना कीर्तिस्तम्भ ही स्थापित किया था; जैसा कि संहिताके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

तत्राद्यस्य वरो सुतो वरगुणो न्योताह्वसंघाधिपो
येनैतज्जिनमन्दिरं स्फुटमिह प्रोत्तुंगमत्यद्भुतं।
वैराटे नगरे निधाय विधिवत्पूजाश्च बह्व्यः कृताः
अत्रामुत्र सुखप्रदः स्वयशसः स्तंभः समारोपितः ॥७२॥

आजकल वैराट ग्राममें पुरातन वस्तुशोधकोंके देखने योग्य जो तीन चीजें पाई जाती हैं उनमें पार्श्वनाथका मन्दिर भी एक खास चीज है और वह सम्भवतः यही मन्दिर मालूम होता है जिसका कविने लाटीसंहिता में उल्लेख किया है*। इस संहितामें संहिताको निर्माण करानेवाले साहु

---

* पार्श्वनाथका यह मन्दिर दिगम्बर जैन है; और दिगम्बर जैनोंके ही अधिकारमें है। इस मन्दिरके पासके कम्पाउण्ड (अहाते) की दीवारमें एक लेखवाली शिला चिनी हुई है और उसपर शक संवत् १५०६ (वि० सन् १६४४) 'इन्द्रविहार' अपर नाम 'महोदयप्रासाद' नामके एक श्वेताम्बर मन्दिरके निर्मापित तथा प्रतिष्ठित होनेका उल्लेख है। इस परसे डा० आर० भाण्डारकरने 'आर्किओलॉजिकल सर्वे वेस्टर्न सर्किल प्रोग्रेस रिपोर्ट सन् १६१०' में यह अनुमान किया है कि उक्त मन्दिर पहले श्वेताम्बरोंकी मिल्कियत था (देखो 'प्राचीन लेखसंग्रह' द्वितीय भाग)। परन्तु भाण्डारकर महोदयका यह अनुमान, लाटीसंहिताके उक्त कथनको देखते हुए समुचित

फामनके वंशका भी यत्किञ्चित विस्तारके साथ वर्णन है और उससे फामनके पिता, पितामह पितृव्यों, भाइयों और सबके पुत्र-पौत्रों तथा स्त्रियोंका हाल जाना जाता है। साथ ही, यह मालूम होता है कि वे लोग बहुत कुछ वैभवशाली तथा प्रभाव-सम्पन्न थे। इनकी पूर्वनिवास-भूमि '**डौकनी**' नामकी नगरी थी और ये **काष्ठासंघी** माथुरगच्छ पुष्करगणके भट्टारकोंकी उस गद्दीको मानते थे—उसके अनुयायी अथवा आम्नायी थे–जिसपर क्रमशः **कुमारसेन, हेमचन्द्र, पद्मनंदी, यशःकीर्ति** और **क्षेमकीर्ति** नामके भट्टारक प्रतिष्ठित हुए थे †। क्षेमकीर्ति भट्टारक उस

प्रतीत नहीं होता और इसके कई कारण हैं—एक तो यह कि लाटीसंहिता उक्त शिलालेखसे साढ़े तीन वर्षके करीब पहलेकी लिखी हुई है और उसमें वैराट-जिनालयको, जो कितने ही वर्ष पहले बन चुका था, एक दिगम्बर जैन-द्वारा निर्मापित लिखा है। दूसरा यह कि, शिलालेखमें जिस मन्दिरका उल्लेख है उसमें मूलनायक प्रतिमा विमलनाथकी बतलाई गई है, ऐसी हालतमें मन्दिर विमलनाथके नामसे प्रसिद्ध होना चाहिये था, पार्श्वनाथके नामसे नहीं। और तीसरा यह कि, शिलालेख एक कम्पाउण्ड की दीवारमें पाया जाता है, जिससे यह बहुत कुछ संभव है कि यह दूसरे मन्दिर का शिलालेख हो, उसके गिरजाने पर कम्पाउण्डकी नई रचना अथवा मरम्मतके समय वह उसमें चिन दिया गया हो। इसके सिवाय, दोनों मन्दिरोंका पासपास तथा एक ही अहातेमें होना भी कुछ असंभवित नहीं है। पहले कितने ही मन्दिर दोनों सम्प्रदायोंके संयुक्त तक रहे हैं; उस वक्त आजकल जैसी बेहूदा कशाकशी नहीं थी।

† जैसा कि प्रथमसर्गके निम्न पद्योंसे प्रकट है:—

श्रीमति काष्ठासंघे माथुरगच्छेऽथ पुष्करे च गणे।
लोहाचार्यप्रभृतौ समन्वये वर्तमाने च ॥६४॥

ममय मौजूद भी थे और उनके उपदेश तथा आदेशसे उक्त जिनालयमें कितने ही रंग-बिरंगे चित्रोंकी रचना हुई थी और उस रचनाको करनेवाला 'सार्थ' नामका कोई लिपिकार होगया था जैसा कि निम्न वाक्यसे प्रकट है:-

---

आसीत्सूरिकुमारसेनविदितः पट्टस्थभट्टारकः
स्याद्वादैरनवद्यवादनखरैर्वादीभकुम्भेभभित् ।
येनेदं युगयोगिभिः परिभृतं सम्यग्दृगादित्रयी
नानारत्नचितं वृषप्रवहणं निन्येऽत्र पारंपरम् ॥६५॥
तत्पट्टेऽजनि हेमचन्द्रगणभृद्भट्टारकोर्वीपतिः
काष्ठासंघनभोङ्गणे दिनमणिर्मिथ्यान्धकारारिजित् ।
यन्नामस्मृतिमात्रतोऽन्यगणिनो विच्छायतामागताः ।
खद्योता इव वाथवाप्युडुगणा भान्तीव भास्वत्पुरः ॥६६॥
तत्पट्टेऽभवदर्हतामनयः श्रीपद्मनन्दी गणी
त्रैविद्यो जिनधर्मकर्मठमनाः प्रायः सतामग्रणीः ।
भव्यात्मप्रतिबोधनोद्भटमतिर्भट्टारको वाक्पटु-
र्यस्याद्यापि यशः शशाङ्कविशदं जागर्ति भूमण्डले ॥६७॥
तत्पट्टे परमाख्यया मुनियशःकीर्तिश्च भट्टारको
नैर्ग्रन्थ्यं पदमार्हतं श्रुतबलादादाय निःशेषतः ।
सर्पिर्दुग्धदधीक्षुतैलमखिलं पञ्चापि यावद्रसान्
त्यक्त्वा जन्ममयं ततुग्रमकरोत्कर्मक्षयार्थं तपः ॥६८॥
तत्पट्टेऽस्त्यधुना प्रतापनिलयः श्रीक्षेमकीर्तिर्मुनिः
हेयादेयविचारचारुचतुरो भट्टारकोंऽशुमान् ।
यस्य प्रोषधपारणादिसमये पादोदबिन्दूत्करै-
र्जातान्येव शिरांसि धौतकलुषाण्याशाम्बराणां नृणाम् ॥६९॥
तेषां तदाम्नायपरंपरायामासीत्पुरो ढौकनिनामधेयः ।
तद्वासिनः केचिदुपासकाः स्युः सुरेन्द्रसाम्यमुपमीयमानाः ॥७०॥

चित्रालीयंदलीलिखत् त्रिजगतामासृष्टिसर्गक्रमाद्
आदेशादुपदेशतश्च नियतं श्रीक्षेमकीर्तेः गुरोः ।
गुर्वाज्ञानतिवृत्तितश्च विदुषस्ताल्हूपदेशादपि
वैराटस्य जिनालये लिपिकरस्तत्सार्थनामाऽप्यभूत् ॥८४॥

वैराट नगरमें उस समय भट्टारक हेमचन्द्रकी प्रसिद्ध आम्नायको पालनेवाले 'ताल्हू' नामके एक विद्वान भी थे, जिनके अनुग्रहसे फामनको धर्मका स्वरूप जानने आदिमें कितनी ही सहायता मिली थी। परन्तु उसका वह सब जानना उस वक्त तक प्रायः सामान्य ही था जब तक कि कविराजमल्ल वहाँ पहुँचे* और उनसे धर्मका विशेष स्वरूपादि पूछा जाकर लाटीसंहिताकी रचना कराई गई।

---

* कविराजमल्ल वैराट नगरके निवासी नहीं थे; बल्कि स्वयं ही किसी अज्ञात कारणवश वहाँ पहुँच गये थे, यह बात नीचे लिखे पद्यसे प्रकट है, जो संहितामें फामनका वर्णन करते हुए दिया गया है:—

येनानन्तरिताभिधानविधिना संघाधिनाथेन यद्-
धर्म्मारामयशोमयं निजवपुः कर्तुं चिरादीप्सितम्॥
तन्मन्ये फलवत्तरं कृतमिदं लब्ध्वाऽधुना सत्कविम्।
वैराटे स्वयमागतं शुभवशाद्वर्णीशमल्लाह्वयम् ॥७६॥

बहुत संभव है कि आगराके बाद (जहाँ सं० १६३२ में जम्बूस्वामिचरित की रचना हुई) नागौर होते हुए और नागौरमें (जहाँ छन्दोविद्या रची गई) कुछ अर्से तक ठहरकर कविवर वैराट नगर पहुँचे हों और अपने अन्तिम समय तक वहीं स्थित रहे हों; क्योंकि यह नगर आपको बहुत पसन्द आया मालूम होता है। आपने इसकी प्रशंसा तथा महिमाके गानमें स्वतः प्रसन्न होकर ४८ (११ से ५८) काव्य लिखे हैं और अपने इस कीर्तनको नगरका अल्प स्तवन बतलाया है; जैसा कि उसके अन्तके निम्न काव्यसे प्रकट है:—

इत्याद्यनेकैर्महिमोपमानैर्वैराटनाम्ना नगरं विलोक्य।
स्तोतुं मनागात्मतया प्रवृत्तः सानन्दमास्ते कविराजमल्लः ॥५८॥

इस तरह पर कविराजमल्लने वैराट नगर, अकबर बादशाह काष्ठासंघी भट्टारक-वंश, फामन-कुटुम्ब, स्वयं फामन और वैराट-जिनालयका कितना ही गुणगान तथा बखान करते हुए लाटीसंहिताके रचना-सम्बन्धको व्यक्त किया है। परन्तु खेद है कि इतना लम्बा लिखनेपर भी आपने अपने विषयका कोई खास परिचय नहीं दिया—यह नहीं बतलाया कि आप कहाँ के रहनेवाले थे, किस हेतुसे वैराट नगर गये थे; कौनसे वंश, जाति, गोत्र अथवा कुलमें उत्पन्न हुए थे; आपके माता-पिता तथा विद्यादि-गुरुका क्या नाम था और आप उस समय किस पदमें स्थित थे। लाटीसंहितासे—अध्यात्मकमलमार्तण्ड आदि से भी—इन सब बातोंका कोई पता नहीं चलता। हाँ, लाटीसंहिताको प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे जरूर पाया जाता है—

एतेषामस्ति मध्ये गृहवृषरुचिमान् फामनः संघनाथ-
स्तेनोच्चैः कारितेयं सदनसमुचिता संहिता नाम लाटी।
श्रेयोर्थं फामनीयैः प्रमुदितमनसा दानमानासनाद्यैः।
स्वोपज्ञा राजमल्लेन विदितविदुषाऽऽम्नायिना हैमचन्द्रे॥४७(३८)

इस पद्यसे ग्रन्थकर्त्ताके सम्बन्धमें सिर्फ इतना ही मालूम होता है कि वे हेमचन्द्रकी आम्नायके एक प्रसिद्ध विद्वान् थे और उन्होंने फामनके दान-मान-आसनादिकसे प्रसन्नचित्त होकर लाटीसंहिताकी रचना की है। यहाँ जिन हेमचन्द्रका उल्लेख है वे वे ही काष्ठासंघी भट्टारक हेमचन्द्र जान पड़ते हैं जो माथुर-गच्छी पुष्कर-गणान्वयी भट्टारक कुमारसेनके पट्ट-शिष्य तथा पद्मनन्दि-भट्टारकके पट्ट-गुरु थे और जिनकी कविने संहिताके प्रथम सर्ग(पद्य नं० ६६)में बहुत प्रशंसा की है—लिखा है कि, वे भट्टारकोंके राजा थे, काष्ठासंघरूपी आकाशमें मिथ्यान्धकारको दूर करनेवाले सूर्य थे और उनके नामकी स्मृतिमात्रसे दूसरे आचार्य निस्तेज हो जाते थे अथवा सूर्यके सन्मुख खद्योत और तारागण-जैसी उनकी दशा होती थी

और वे फीके पड़ जाते थे। इन्हीं भ० हेमचन्द्रकी आम्नायमें 'ताल्हू' विद्वानको भी सूचित किया है। इससे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि कविराजमल्ल एक काष्ठासंघी विद्वान् थे। आपने अपनेको हेमचन्द्रका शिष्य या प्रशिष्य न लिखकर आम्नायी लिखा है और फामन-के दान-मान-आसनादिकसे प्रसन्न होकर लाटीसंहिताके लिखनेको सूचित किया है, इससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि आप मुनि नहीं थे। बहुत संभव है कि आप गृहस्थाचार्य हों या त्यागी ब्रह्मचारीके पदपर प्रतिष्ठित रहे हों। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आप एक बहुत बड़े प्रतिभाशाली विद्वान् थे, जैनागमोंका अध्ययन तथा अनुभव आपका बढ़ा चढ़ा था और आप सरलतासे विषयके प्रतिपादनमें कुशल एवं ग्रन्थ-निर्माणकी कलामें दक्ष थे।

लाटीसंहिताका नामकरण—

श्रावकाचार-विषयक ग्रन्थका 'लाटीसंहिता' यह नाम-करण बहुत ही अश्रुतपूर्व तथा अनोखा जान पड़ता है, और इस लिये पाठक इस विषयमें कुछ जानकारी प्राप्त करनेके जरूर इच्छुक होंगे। अतः यहाँपर इसका कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है।

इस ग्रन्थमें कठिन पदों तथा लम्बे-लम्बे दुरूह समासोंका प्रयोग न करके सरल पदों व मृदु समासों तथा कोमल उक्तियोंके द्वारा श्रावकधर्म-का संग्रह किया गया है और उसके प्रतिपादनमें उचित विशेषणोंके प्रयोग-की ओर यथेष्ट सावधानी रक्खी गई है। साथ ही, संयुक्ताक्षरोंकी भरमार भी नहीं की गई। इसी दृष्टिको लेकर ग्रन्थका नाम 'लाटीसंहिता' रक्खा गया जान पड़ता है; क्योंकि 'लाटी' एक रीति † है—रचनापद्धति है—और

---

† वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली और लाटी ये चार रीतियाँ हैं, जो क्रमशः विदर्भ, गौड़, पाञ्चाल और लाट (गुजरात) देशमें उत्पन्न हुए कवियोंके द्वारा सम्मत हैं। साहित्यदर्पणके 'लाटी तु रीति वैदर्भी-पाञ्चाल्यो-

उसका ऐसा ही स्वरूप है, जैसा कि साहित्यदर्पणकी विवृत्तिमें उद्धृत 'लाटी' के निम्न लक्षणसे प्रकट है—

मृदुपद-समाससुभगा युक्तैर्वर्णैर्न चातिभूयिष्ठा।
उचित-विशेषणपूरित-वस्तुन्यासा भवेल्लाटी॥

ग्रन्थकी रचना-पद्धति इस लक्षणके बिल्कुल अनुरूप है। इसके सिवाय, ग्रन्थकारने ग्रन्थरचनेकी प्रार्थनाका जो न्यास ग्रन्थमें किया है वह इस प्रकार है—

सत्यं धर्मरसायनो यदि तदा मां शिक्षयोपक्रमात्
सारोद्धारमिवाऽप्यनुग्रहतया स्वल्पाक्षरं सारवत्।
आर्षं चापि मृदूक्तिभिः स्फुटमनुच्छिष्टं नवीनं मह-
न्निर्माणं परिधेहि संघनृपतिर्भूयोऽप्यवादीदिति॥८०॥

इसमें ग्रन्थ किस प्रकारका होना चाहिये उसे बतलाते हुए कहा गया है कि 'वह सारोद्धारकी तरह स्वल्पाक्षर, सारवान्, आर्ष, स्फुट (स्पष्ट), अनुच्छिष्ट, नवीन तथा महत्वपूर्ण होना चाहिये और यह सब कार्य मृदु उक्तियोंके द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिये—कठिन तथा दुरूह पद-समासोंके द्वारा नहीं।' अतः यहाँ 'मृदूक्तिभिः' जैसे पदोंके द्वारा, जो लाटी रीतिके संद्योतक हैं ('लाटी तु मृदुभिः पदैः'), इस 'लाटी' रीतिके रूपमें ग्रन्थरचनाकी सूचना की गई है और इस रीतिके अनुरूप ही ग्रन्थ-का नामकरण किया गया जान पड़ता है—जब कि पंचाध्यायीका नाम-करण उसके अध्यायोंकी संख्याके अनुरूप और शेष तीन ग्रन्थोंका नाम-करण उनके विषयके अनुरूप किया गया है। इससे, जिस अनुच्छिष्ट तथा

रन्तरे स्थिता' इस लक्षणके अनुसार वैदर्भी-मिश्रित पाञ्चालीको लाटी कहते हैं और इस लिये उसमें मधुरता, मृदूक्तियों तथा सुकुमार पदोंकी बहुलता होती है। (देखो, साहित्यदर्पण, सवृत्ति, निर्णयसा० पृ० ४६६-६६)

नवीन ग्रन्थके रचनेकी प्रार्थना की गई है उसके अनुरूप, नाममें भी नवीनता आगई है। ग्रन्थनिर्माणकी उक्त प्रार्थनापरसे ग्रन्थकी मौलिकता, सारता और उसकी प्रकृतिका भी कितना ही बोध हो जाता है।

जम्बूस्वामि-चरित—

आजसे कोई १६–१७ वर्ष पहले मुझे इस ग्रन्थका सर्वप्रथम दर्शन देहलीकी एक प्रतिपरसे हुआ था, जिसके मैंने उसी समय विस्तृत नोट्स ले लिये थे और फिर अनेकान्तके प्रथम वर्षकी ३री किरण (माघ सं० १९८६) में, 'कविराजमल्लका एक और ग्रन्थ' इस शीर्षकके साथ, इसका परिचय प्रकाशित किया था। उसी परिचयपरसे ग्रन्थकी सूचनाको पाकर और उसी एक प्रतिके आधारपर सं० १९९३ में 'माणिकचन्द्र ग्रन्थ-माला' के द्वारा इसका उद्धारकार्य हुआ है। यह प्राचीन ग्रन्थ-प्रति देहली-सेठके कूचेके जैनमंदिरमें मौजूद है, बहुत कुछ जीर्ण-शीर्ण है—कितनी ही जगह कागज़की टुकियाँ लगाकर उसकी रक्षा की गई है—,उसी वक्तके करीबकी लिखी हुई है जब कि इस ग्रन्थकी रचना हुई थी और उन्हीं साधु (साहु) टोडरकी लिखाई हुई है जिन्होंने कविसे इसकी रचना कराई थी। ग्रन्थकी रचनाका समय, अन्तकी गद्य प्रशस्तिमें विक्रम गताब्द सं० १६३२ चैत्र सुदि अष्टमी दिया है अर्थात् यह प्रकट किया है कि सं० १६३३ के ८वें दिन यह ग्रन्थ समाप्त किया गया है। यथा:—

"अथ संवत्सरेस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्यगताब्दसंवत् १६३२ वर्षे चैत्रसुदि ८ वासरे पुनर्वसुनक्षत्रे श्रीअर्गलपुरदुर्गे श्रीपातिसाहि-जला(ल)दीनअकबरसाहिप्रवर्तमाने श्रीमत्काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्वये भट्टारकश्रीमलयकीर्तिदेवाः। तत्पट्टे भट्टारकश्रीगुणभद्रसूरिदेवाः। तत्पट्टे भट्टारकश्रीभानुकीर्तिदेवाः। तत्पट्टे भट्टारकश्रीकुमारसेननामधेयास्तदाम्नायेऽग्रोतकान्वये गर्ग-

गोत्रे भटानियाकोलवास्तव्य-श्रावकसाधुश्री ×..........एतेषां-मध्ये परमसुश्रावक-साधुश्रीटोडरेण जंबुस्वामिचरित्रं कारापितं लिखापितं च कर्मक्षयनिमित्तं ॥छ॥ लिखितं गंगादासेन ॥"

इससे यह ग्रन्थ लाटीसंहितासे ९–१० वर्ष पहलेका बना हुआ है। इसमें कुल १३ सर्ग हैं और मुख्यतया अन्तिम केवली श्रीजम्बूस्वामी तथा उनके प्रसादसे सन्मार्गमें लगनेवाले 'विद्युच्चर' की कथा का वर्णन है, जो बड़ी ही सुन्दर तथा रोचक है। कविने स्वयं इस चरितको एक स्थानपर, **'रोमाञ्चजनने क्षमं'** इस विशेषणके द्वारा, रोमाञ्चकारी (रोंगटे खड़े करनेवाला) लिखा है। इसका पहला सर्ग 'कथामुखवर्णन' नामका १४८ पद्योंमें समाप्त हुआ है और उसमें कथाके रचना-सम्बन्धको व्यक्त करते हुए कितनी ही ऐतिहासिक बातोंका भी उल्लेख किया है। अकबर बादशाहका कीर्तन और उसकी गुजरात-विजयका वर्णन करते हुए लिखा है कि उसने 'जजिया' कर छोड़ दिया था और 'शराब' बन्द की थी। यथाः—

"मुमोच शुल्कं त्वथ जेजियाऽभिधं
स यावदंभोधरभूधराधरं।...२७॥
"प्रमादमादाय जनः प्रवर्त्तते
कुधर्मवर्गेषु यतः प्रमत्तधीः
ततोऽपि मद्यं तदवद्यकारणं
निवारयामास विदांवरः स हि ॥२९॥

आगरेमें उस समय अकबर बादशाहके एक खास अधिकारी (सर्वाधिकारक्षमः) 'कृष्णामंगल चोधरी' नामके क्षत्रिय थे जो 'ठाकुर' तथा 'अरजानीपुत्र' भी कहलाते थे और इन्द्रश्री को प्राप्त थे। उनके आगे 'गढमल्लसाहु' नामके एक वैष्णवधर्मावलम्बी दूसरे अधिकारी थे जो बड़े

× यहाँ बिन्दुस्थानीय भागमें साधु टोडरके पूर्वजों तथा वर्तमान कुटुम्बीजनोंके नामादिकका उल्लेख है।

परोपकारी थे और जिन्हें कविवरने परोपकारार्थ शाश्वती लक्ष्मी प्राप्त करनेरूप आशीर्वाद दिया है। इस ग्रन्थकी रचना करानेवाले टोडरसाहु इन दोनोंके ख़ास प्रीतिपात्र थे और उन्हें टकसालके कार्यमें दक्ष लिखा है—

"तत्र··ठक्कुरसंज्ञकश्च अरजानीपुत्र इत्याख्यया
कृष्णामंगलचौधरीति विदितः चात्रः स्ववंशाधिपः।
श्रीमत्साहिजलालदीन-निकटः सर्वाधिकारक्षमः
सार्वः सर्वमयः प्रतापनिकरः श्रीमान्सदास्ते ध्रुवम् ॥५६॥"

येनाकारि महारिमानदमनं वित्तं बृहत्वार्जितम्
कालिंदीसरिदम्बुभिः सविधिना स्नात्वाथ विश्रांतिके।
तामारुह्य तुलामतुल्यमहिमां सौवर्ण्यशोभामयी—
मैन्द्रश्रीपदमात्मसात्कृतवता संराजितं भूतले ॥५७॥

तस्याग्रे गढ़मल्लसाहुमहती साधूक्तिरन्वर्थतो
यस्मात्स्वामिपरं क्लेशमपि तं गृह्णाति न क्वाप्ययम्।
श्रीमद्वैष्णवधर्मकर्मनिरतो गंगादितीर्थे रतः
श्रीमानेष परोपकारकारणे लभ्याच्छ्रियं शाश्वतीम् ॥५८॥

तयोर्द्वयोः प्रीतिरसामृतात्मकः स भाति नानाटकसारदक्षकः।
कथं कथायां श्रवणोत्सुकः स्यादुपासकः कश्च तदन्वयं वदे ॥५६॥

टोडरसाहु गर्गगोत्री अग्रवाल थे, भटानियाकोल(अलीगढ़)नगरके रहने वाले थे और काष्ठासंघी भट्टारक कुमारसेनके आम्नायी थे। कुमारसेन को भानुकीर्तिका, भानुकीर्तिको गुणभद्रका और गुणभद्रको मलयकीर्ति भट्टारकका पट्टशिष्य लिखा है। परन्तु लाटीसंहितामें, जो वि० सं० १६४१ में बनकर समाप्त हुई है, ये ही ग्रन्थकार इन्हीं कुमारसेन भट्टारकके पट्टपर क्रमशः हेमचन्द्र, पद्मनन्दी, यशःकीर्ति और क्षेमकीर्ति भट्टारकोंका होना लिखते हैं और प्रकट करते हैं कि इस समय क्षेमकीर्ति भाट्टारक मौजूद हैं। इससे यह साफ मालूम होता है कि दस वर्षके भीतर चार पट्ट

बदल गये हैं और ये भट्टारक बहुत ही अल्पायु हुए हैं। संभव है कि उनकी इस अल्पायुका कारण कोई आकस्मिक मृत्यु अथवा नगरमें किसी वबाका फैल जाना रहा हो।

कवि राजमल्लने इस ग्रन्थमें अपना कोई विशेष परिचय नहीं दिया। हाँ, 'कवि' * विशेषणके अतिरिक्त "स्याद्वादाऽनवद्य-गद्य-पद्य-विद्या-विशारद" यह विशेषण इस ग्रन्थमें भी दिया गया है। साथ ही, ग्रन्थ-रचनेकी साहु टोडरकी प्रार्थनामें अपने विषयमें इतनी सूचना और की है कि आप महाबुद्धिसम्पन्न होते हुए 'परोपकारके लिये कटिबद्ध' थे और कृपासिन्धुके उस पार पहुँचे हुए थे—बड़े ही कृपापरायण थे। यथाः—

> यूयं परोपकाराय बद्धकक्षा महाधियः।
> उत्तीर्णाश्च परं तीरं कृपावारिमहोदधेः ॥१२६॥
> ततोऽनुग्रहमाधाय बोधयध्वं तु मे मनः।
> जम्बूस्वामिपुराणस्य शुश्रूषा हृदि वर्तते ॥१२७॥

बहुत संभव है कि आप कोई अच्छे त्यागी ब्रह्मचारी ही रहे हों—गृहस्थके जालमें फंसे हुए तो मालूम नहीं होते। अस्तु; इस ग्रन्थ परसे इतना तो स्पष्ट है कि आप कुछ वर्षों तक आगरे में भी रहे हैं। और आगरेके बाद ही बैराट नगर पहुँचे हैं, जहाँ के जिनालयमें बैठकर आपने 'लाटी-संहिता'की रचना की है।

एक बात और भी स्पष्ट जान पड़ती है और वह यह कि इस चरित-ग्रन्थकी रचना करते समय कविवर युवा-अवस्थाको प्राप्त थे—प्रौढ़ा अथवा वृद्धावस्थाको नहीं; क्योंकि गुरुजनोंकी उपस्थितिमें जम्बूस्वामिचरित-के रचनेकी जब उनसे मथुरा-सभामें प्रार्थना की गई तो उसके उत्तरमें

---

* यथाः—

"निग्रहस्थानमेतेषां पुरस्ताद्वक्ष्यते कविः।" (२-११६)

सर्वतोऽस्य सुलक्ष्माणि नाऽलं वर्णयितुं कविः (२-२१६)

उन्होंने अपनेको सबसे छोटा (लघु) बतलाते हुए स्पष्ट कहा है कि—वह दर्जेमें ही नहीं किन्तु उम्रमें भी छोटा है :—

सर्वेभ्योऽपिलघीयांश्च केवलं न क्रमादिह।
वयसोऽपि लघुर्बुद्धो गुणैर्ज्ञानादिभिस्तथा ॥१–१३४॥

उम्रका यह छोटापन कविवरके ज्ञानादिगुणोंको देखते हुए ३५–३६ वर्षसे कमका मालूम नहीं होता, और इसलिये सं० १६४१में लाटीसंहिता की रचनाके समय आपकी अवस्था ४५ वर्षके लगभग रही होगी। अध्यात्मकमलमार्तण्ड और पंचाध्यायी जैसे ग्रंथोंके लिये, जो आपके पिछले तथा अन्तिम जीवनकी कृतियाँ जान पड़ती हैं, यदि पाँच वर्षका समय और मान लिया जाय तो आपकी यह लोकयात्रा लगभग ५० वर्षकी अवस्थामें ही समाप्त हुई जान पड़ती है।

इसके सिवाय, ग्रन्थपरसे यह भी जान पड़ता है कि कविवर इस ग्रन्थकी रचनासे पहले समयसारादि अध्यात्मग्रन्थोंके अच्छे अभ्यासी होगये थे, उन्हें उनमें रस आरहा था और इसीसे उस समयके ताज़ा विचारों एवं संस्कारोंकी छाया इस ग्रन्थपर पड़ी हुई जान पड़ती है। जैसा कि नीचेके कुछ वाक्योंसे प्रकट है :—

मृदूक्त्या कथितं किञ्चिद्यन्मयाप्यल्पमेधसा।
स्वानुभूत्यादि तत्सर्वं परीक्ष्योद्धर्तुमर्हथ ॥१४३॥
इत्याराधितसाधूक्तिर्हृदि पंचगुरून् नयन्।
जम्बूस्वामि-कथा-व्याजादात्मानं तु पुनाम्यहम् ॥१४४॥
सोऽहमात्मा विशुद्धात्मा चिद्रूपो रूपवर्जितः।
अतः परं यका संज्ञा सा मदीया न सर्वतः ॥१४५॥
यज्जानाति न तन्नाम यन्नामापि न बोधवत्।
इति भेदात्तयोर्नाम कथं कर्तृ नियुज्यते ॥१४६॥
अथाऽसंख्यातदेशित्वाच्चैकोऽहं द्रव्यनिश्चयात्।
नाम्ना पर्यायमात्रत्वादनन्तत्वेऽपि किं वदे ॥१४७॥

धन्यास्ते परमात्मतत्त्वममलं प्रत्यक्षमत्यक्षतः
साक्षात्स्वानुभवैकगम्यमहसां विन्दन्ति ये साधवः।
सान्द्रं सज्जतया न मज्जनतया प्रक्षालितान्तर्मला-
स्तत्रानन्तसुखामृताम्बुसरसीहंसाश्च तेभ्यो नमः ॥१४८॥

—प्रथम सर्ग

इनमें 'जम्बूस्वामि-कथाके बहाने मैं अपनी आत्माको पवित्र करता हूँ' ऐसा कहकर बतलाया है कि—'मैं वह (परंब्रह्मरूप) आत्मा हूँ, विशुद्धात्मा हूँ, चिद्रूप हूँ, रूपवर्जित हूँ, इससे आगे और जो संज्ञा ('राजमल्ल' नाम) है वह मेरी नहीं है। जो जानता है वह नाम नहीं है और जो नाम है वह ज्ञानवान् नहीं है, दोनोंके इस भेदके कारण नाम (संज्ञा) को कैसे कर्ता ठहराया जाय? मैं तो द्रव्यनिश्चयसे—द्रव्यार्थिक नयके निश्चयानुसार—असंख्यातप्रदेशिरूपसे एक हूँ, नामके मात्र पर्यायपना और अनन्तत्वपना होनेसे मैं अपनेको क्या कहूँ?—किस नामसे नामाङ्कित करूं? वे साधु धन्य हैं जो स्वानुभवगम्य निर्मल गाढ परमात्मतत्वको साक्षात् अतीन्द्रिय-रूपसे प्रत्यक्ष जानते हैं और जिन्होंने मज्जनतासे नहीं किन्तु सज्जतासे अन्तर्मलोंको धो डाला है और उस परमात्मतत्वरूप सरोवरके हंस बने हुए हैं जो अनन्त सुखस्वरूप अमृतजलका आधार है उन साधुओंको नमस्कार।'

इस प्रकारका भाव ग्रन्थकारने लाटीसंहिताके 'कथामुखवर्णन' नामके पहले सर्गमें अथवा अन्यत्र कहीं भी व्यक्त नहीं किया, और इसलिये यह अध्यात्म-ग्रन्थोंके कुछ ही पूर्ववर्ती ताजा अध्ययन-जन्य संस्कारोंका परिणाम जान पड़ता है। इस ग्रन्थमें काव्य-रचना करते समय दुर्जनोंकी भीतिका कुछ उल्लेख जरूर किया है और फिर साहसके साथ कह दिया है—

यदि संति गुणा वाण्यामत्रौदार्यादयः क्रमात्।
साधवः साधु मन्यन्ते का भीतिः शठविद्विषाम् ॥१४१॥

परन्तु लाटीसंहितादि दूसरे ग्रन्थोंमें इस प्रकारकी दुर्जन-भीतिका कोई उल्लेख नहीं है, और इससे मालूम होता है कि कविवरके विचारोंमें इसके बादसे ही परिवर्तन हो गया था और वे और ऊंचे उठ गये थे।

इस ग्रन्थका आदिम मंगलाचरण इस प्रकार है :—

उद्दीपीकृतपरमानन्दाद्यात्मचतुष्टयं च बुधाः।
निगदन्ति यस्य गर्भाद्युत्सवमिह तं स्तुवे वीरम् ॥१॥
बहिरंतरंगमंगं संगच्छद्भिः स्वभावपर्यायैः।
परिणममानः शुद्धः सिद्धसमूहोऽपि वो श्रियं दिशतु ॥२॥
चरित्रमोहारिविनिर्जयाद्यतिर्विरज्यशय्याशयनाशनादपि।
व्रतं तपः शीलगुणाश्च धारयंस्त्रयीव जीयाद्यदिवा मुनित्रयी ।३।
रवेः करालीव विधुन्वती तमो यदान्तरं स्यात्पदवादि-भारती।
पदार्थसार्थां पदवीं ददर्श या मनोम्बुजे मे पदमातनोतु सा ।४।

यहाँ मंगलरूपमें वीर (अर्हन्त), सिद्धसमूह और मुनित्रयी (आचार्य, उपाध्याय, साधु) इन पंचपरमेष्ठिका जिस क्रमसे स्मरण किया गया है उसीका अनुसरण लाटीसंहिता और पंचाध्यायीमें भी पाया जाता है। भारती (सरस्वती) का जो स्मरण यहाँ 'स्याद्वादिनी' के रूपमें है वही अध्यात्मकमलमार्तण्डमें 'जगदम्बभारती' के रूपमें और लाटीसंहितामें 'जैन कविवरोंकी भारती' के रूपमें ('जयन्ति जैनाः कवयश्च तद्गिरः') उपलब्ध होता है। और अन्तको पंचाध्यायीमें उसे ही 'जैनशासन' ('जीयाज्जैनं शासनम्') रूपसे उल्लेखित किया है। और इस तरह इन ग्रन्थोंकी मंगल-शरणी प्रायः एक पाई जाती है।

हाँ, एक बात और भी इस सम्बन्धमें नोट करलेने की है और वह यह कि इस जम्बूस्वामिचरितके द्वितीयादि सर्गोंमें पहले एक एक पद्य द्वारा उन साहु टोडरको आशीर्वाद दिया गया है जिन्होंने ग्रन्थकी रचना कराई है और जिन्हें ग्रन्थमें अनेक गुणोंका आगार, महोदार, त्यागी (दानी),

यशस्वी, धर्मानुरागी, धर्मतत्पर और सुधी घोषित किया है। तदनन्तर वृषभादि-वर्धमान-पर्यन्त दो दो तीर्थंकरोंकी वन्दनादिरूप प्रत्येक सर्गमें अलग अलग मंगलाचरण किया गया है। लाटीसंहिताके द्वितीयादि सर्गोंमें उसका निर्माण करानेवाले फामनको आशीर्वाद तो दिया गया है परन्तु सर्ग-क्रमसे अलग अलग मंगलाचरणकी बातको छोड़ दिया है, अध्यात्मकमलमार्तण्डादि दूसरे ग्रन्थोंमें भी दोबारा मंगलाचरण नहीं किया गया है और यह बात रचना-सम्बन्धमें जम्बूस्वामिचरितके बाद कविके कुछ विचार-परिवर्तनको सूचित करती है। जान पड़ता है उन्होंने दोबारा तिबारा आदिरूपसे पुनः मंगलाचरणको फिर आवश्यक नहीं समझा और ग्रन्थका एक ही प्रारम्भिक मंगलाचरण करना उन्हें उचित जान पड़ा है। इसीसे लाटीसंहिता और पंचाध्यायीमें महावीरके अनन्तर शेष तीर्थंकरोंका भी स्मरण समुच्चयरूपमें कर लिया गया है।

मथुरामें सैकड़ों जैनस्तूपोंके अस्तित्वका पता—

कवि राजमल्लके इस 'जम्बूस्वामिचरित' से—उसके 'कथामुखवर्णन' नामक प्रथम सर्गसे—एक ख़ास बातका पता चलता है, और वह यह कि उस वक्त—अकबर बादशाहके समयमें—मथुरा नगरीके पासकी बहिर्भूमि पर ५०० से अधिक जैन स्तूप थे। मध्यमें अन्त्य केवली जम्बूस्वामीका स्तूप (निःसही-स्थान) और उसके चरणोंमें ही विद्युच्चर मुनिका स्तूप था। फिर उनके आस-पास कहीं पाँच, कहीं आठ, कहीं दस और कहीं बीस इत्यादि रूपसे दूसरे मुनियोंके स्तूप बने थे। ये स्तूप बहुत पुराने होने की वजहसे जीर्ण-शीर्ण होगये थे। साहु टोडरजी जब यात्राको निकले और मथुरा पहुँचकर उन्होंने इन स्तूपोंकी इस हालतको देखा तो उनके हृदयमें उन्हें फिरसे नये करा देनेका धार्मिक भाव उत्पन्न हुआ। चुनाँचे आपने बड़ी उदारताके साथ बहुत द्रव्य खर्च करके उनका नूतन संस्कार कराया। स्तूपोंके इस नवीन संस्करणमें ५०१ स्तूपोंका तो एक समूह और १३ का

दूसरा, ऐसे ५१४ स्तूप बनाये गये और उनके पास ही १२ द्वारपाल आदिक भी स्थापित किये गये। जब निर्माणका यह सब कार्य पूरा हो गया तब चतुर्विध संघको बुलाकर उत्सवके साथ सं० १६३० के अनन्तर (सं० १६३१ की) ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशीको बुधवारके दिन ६ घड़ीके ऊपर पूजन तथा सूरिमन्त्रपुरस्सर इस तीर्थसम * प्रभावशाली क्षेत्रकी प्रतिष्ठा की गई ×। इस विषयको सूचित करने वाले पद्य इस प्रकार हैं—

अथैकदा महापुर्यां मथुरायां कृतोद्यमः।
यात्रार्थं सिद्धक्षेत्रस्थचैत्यानामगमत्सुखम् ॥७६॥
तस्याः पर्य्यन्तभूभागे दृष्ट्वा स्थानं मनोहरम्।
महर्षिभिः समासीनं पूतं सिद्धास्पदोपमम् ॥८०॥
तत्रापश्यत्सधर्मात्मा निःसहीस्थानमुत्तमम्।
अंत्यकेवलिनो जंबूस्वामिनो मध्यमादिमम् ॥८१॥
ततो विद्युच्चरो नाम्ना मुनिः स्यात्तदनुग्रहात्।
अतस्तस्यैव पादान्ते स्थापितः पूर्वसूरिभिः ॥८२॥
ततः केऽपि महासत्वा दुःखसंसारभीरवः।
संनिधानं तयोः प्राप्य पदं साम्यं समं दधुः ॥८३॥

---

* 'तीर्थ' न कहकर 'तीर्थसम' कहनेका कारण यही है कि कवि-द्वारा जम्बूस्वामीका निर्वाण-स्थान, मथुराको न मानकर, विपुलाचल माना गया है ('ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात्')। सकलकीर्तिके शिष्य जिनदास ब्रह्मचारीने भी विपुलाचलको ही निर्वाणस्थान बतलाया है। मथुराको निर्वाणस्थान माननेकी जो प्रसिद्धि है वह किस आधारपर अवलम्बित है, यह अभी तक भी कुछ ठीक मालूम नहीं हो सका।

× प्रतिष्ठा हो जानेके बाद ही सभामें जम्बूस्वामीका चरित रचनेके लिये कवि राजमल्लसे प्रार्थना की गई है, जिसके दो पद्य पीछे (पृ० ४० पर) उद्धृत किये गये हैं।

ततो धूतमहामोहा अखंडव्रतधारिणः ।
स्वायुरंते यथास्थानं जग्मुस्तेभ्यो नमो नमः ॥८५॥
ततः स्थानानि तेषां हि तयोः पार्श्वे सुयुक्तितः ।
स्थापितानि यथाम्नायं प्रमाणनयकोविदैः ॥८६॥
क्वचित्पंच क्वचिच्चाष्टौ क्वचिद्दश ततः परम् ।
क्वचिद्विंशतिरेव स्यात् स्तूपानां च यथायथम् ॥८७॥
तत्रापि चिरकालत्वे द्रव्याणां परिणामतः ।
स्तूपानां कृतकत्वाच्च जीर्णता स्यादबाधिता ॥८८॥
तां [च] दृष्ट्वा स धर्मात्मा नव्यमुद्धर्तुमुत्सकः ।
स्याद्यथा जीर्णपत्राणि वसंत-समये नवम् ॥८९॥
मनो व्यापारयामास धर्मकार्ये स बुद्धिमान् ।
तावद्धर्म्मफलास्तिक्यं श्रद्धानोऽवधानवान् ॥९०॥

× × × ×

ज्ञातधर्म्मफलः सोऽयं स्तूपान्यभिनवत्वतः ।
कारयामास पुण्यार्थं यशः केन निवार्यते ॥११४॥
यशः कृते धनं तेनुः केचिद्धर्म्मकृतेऽर्थतः ।
तद्द्वयार्थमसौ दध्रे यथा स्वादुमहौषधम् ॥११५॥
शीघ्रं शुभदिने लग्ने मंगलद्रव्यपूर्वकम् ।
सोत्साहः स समारंभं कृतवान्पुण्यवानिह ॥११६॥
ततोऽप्येकाग्रचित्तेन सावधानतयाऽनिशम् ।
महोदारतया शश्वन्निन्ये पूर्णानि पुण्यभाक् ॥११७॥
शतानां पंच चाप्यैकं शुद्धं चाधित्रयोदशम् ।
स्तूपानां तत्समीपे च द्वादशद्वारिकादिकम् ॥११८॥
संवत्सरे गताब्दानां शतानां षोडशं क्रमात् ।
शुद्धैस्त्रिंशद्भिरब्दैश्च साधिकं दधति स्फुटम् ॥११९॥

शुभे ज्येष्ठे महामासे शुक्ले पक्षे महोदये।
द्वादश्यां बुधवारे स्याद् घटीनां च नवोपरि ॥१२०॥
परमाश्चर्यपदं पूतं स्थानं तीर्थसमप्रभम्।
शुभ्रं रुक्मगिरेः साक्षात्कूटं लक्ष्मिवोच्छ्रितं ॥१२१॥
पूजया च यथाशक्ति सूरिमंत्रैः प्रतिष्ठितम्।
चतुर्विधमहासंघं समाहूयाऽत्र धीमता ॥१२२॥

ये सब स्तूप आज मथुरामें नहीं हैं, कालके प्रबल आघात तथा विरोधियोंके तीव्र मत-द्वेषने उन्हें धराशायी कर दिया है, उनके भग्नावशेष ही आज कुछ टीलोंके रूपमें चीन्हें जा सकते हैं। आम तौरपर जैनियोंको इस बातका पता भी नहीं कि मथुरामें कभी उनके इतने स्तूप रहे हैं। बहुतसे स्तूपोंके ध्वंसावशेष तो सदृशताके कारण गलतीसे बौद्धोंके समझ लिये गये हैं और तदनुसार जैनी भी वैसा ही मानने लगे हैं। परंतु ऊपर के उल्लेख-वाक्योंसे प्रकट है कि मथुरामें जैन-स्तूपोंकी एक बहुत बड़ी संख्या रही है। और उसका कारण भी है। 'विद्युच्चर' नामका एक बहुत बड़ा डाकू था, जो राजपुत्र होनेपर भी किसी दुरभिनिवेशके वश चोर-कर्ममें प्रवृत्त होकर चोरी तथा डकैती किया करता था, और जिसे आम जैनी 'विद्युत चोर' के नामसे पहचानते हैं। उसके पाँचसौ साथी थे। जम्बूस्वामीके व्यक्तित्वसे प्रभावित होकर, उनकी असाधारण निस्पृहता-विरक्तता-अलिप्तताको देखकर और उनके सदुपदेशको पाकर उसकी आँखें खुलीं, हृदय बदल गया, अपनी पिछली प्रवृत्ति पर उसे भारी खेद हुआ और इसलिये वह भी स्वामीके साथ जिनदीक्षा लेकर जैनमुनि बन गया। यह सब देखकर उसके 'प्रभव' आदि साथी भी, जो सदा उसके साथ एक-जान एकप्राण होकर रहते थे, विरक्त हो गये और उन्होंने भी जैनमुनि-दीक्षा ले ली। इस तरह यह ५०१ मुनियोंका संघ प्रायः एक साथ ही रहता तथा विचरता था। एक बार जब यह संघ विहार करता हुआ जा रहा था तो इसे मथुराके बाहर एक महोद्यानमें सूर्यास्त होगया और इसलिये मुनिचर्या-

के अनुसार सब मुनि उसी स्थान पर ठहर गये *। इतनेमें किसी वन-देवताने आकर विद्युच्चरको सूचना दी कि यदि तुम लोग इस स्थानपर रातको ठहरोगे तो तुम्हारे ऊपर ऐसे घोर उपसर्ग होंगे जिन्हें तुम सहन नहीं कर सकोगे, अतः पाँच दिनके लिये किसी दूसरे स्थान पर चले जाओ। इस पर विद्युच्चरने संघके कुछ वृद्ध मुनियोंसे परामर्श किया, परन्तु मुनिचर्या-के अनुसार रातको गमन करना उचित नहीं समझा गया। कुछ मुनियोंने तो दृढताके साथ यहाँ तक कह डाला कि—

"अस्तं गते दिवानाथे नेयं कालोचिता क्रिया ॥१२-१३३॥
विभ्यतां कीदृशो धर्मः स्वामिन्निःशंकिताभिधः।
उपसर्गसहो योगी प्रसिद्धः परमागमे ।-१३४॥
भवत्वत्र यथाभाव्यं भाविकर्म शुभाऽशुभम्।
तिष्ठामो वयमद्यैव रजन्यां मौनवृत्तयः।-१३५॥

'सूर्यास्तके बाद यह गमन-क्रिया उचित नहीं है। डरने वालोंके निःशंकित नामका धर्म कैसा ? आगममें उपसर्गोंको सहनेवाला ही योगी प्रसिद्ध है। इसलिये भावी शुभ-अशुभ-कर्मानुसार जो कुछ होना है वह हो रहो, हम तो आज रातको यहीं मौन लेकर रहेंगे।'

तदनुसार सभी मुनिजन मौन लेकर स्थिर हो गये। इसके बाद जो उपसर्ग-परम्परा प्रारम्भ हुई उसे यहाँ बतलाकर पाठकोंका चित्त दुखानेकी जरूरत नहीं है—उसके स्मरणमात्रसे रोंगटे खड़े होते हैं। रातभर नाना-

---

* अथ विद्युच्चरो नाम्ना पर्यटन्निह सन्मुनिः।
एकादशांगविद्यायामधीती विदधत्तपः ॥१२-१२५॥
अथान्येद्युः स निःसंगो मुनिपंचशतैर्वृतः।
मथुरायां महोद्यानप्रदेशेष्वगमन्मुदा ॥-१२६॥
तदागच्छत्स वैल(र)क्त्यं भानुरस्ताचलं श्रितः।
घोरोपसर्गमेतेषां स्वयं द्रष्टुमिवाक्षमः ॥-१२७॥

प्रकारके घोर उपसर्ग जारी रहे और उन्हें दृढताके साथ साम्यभावसे सहते हुए ही मुनियोंने प्राण त्याग किये हैं। उन्हीं समाधिको प्राप्त धीर वीर मुनियोंकी पवित्र यादगारमें उनके समाधिस्थानके तौरपर ये ५०१ स्तूप एकत्र बनाये जान पड़ते हैं। बाकी १३ स्तूपोंमें एक स्तूप जम्बूस्वामीका होगा और १२ दूसरे मुनिपुंगवोंके। जम्बूस्वामीका निर्वाण यद्यपि इस ग्रन्थ में विपुलाचल पर बताया गया है, फिर भी चूँकि जम्बूस्वामी मथुरामें विहार करते हुए आये थे*, कुछ अर्से तक ठहरे थे और विद्युच्चर आदिके जीवनको पलटनेवाले उनके खास गुरु थे, इसलिए साथमें उनकी भी यादगारके तौरपर उनका स्तूप बनाया गया है। हो सकता है कि ये १३ स्तूप उसी स्थान पर हों जिसपर आजकल चौरासीमें जम्बूस्वामीका विशाल मंदिर बना हुआ है और ५०१ स्तूपोंका समूह कंकाली टीलेके स्थानपर (या उसके संनिकट प्रदेशमें) हो, जहाँसे बहुतसी जैनमूर्तियाँ तथा शिलालेख आदि निकले हैं। पुरातत्वज्ञों द्वारा इस विषयकी अच्छी खोज होनेकी जरूरत है। जैनविद्वानों तथा श्रीमानोंको इसके लिए खास परिश्रम करना चाहिये।

कविवरकी दृष्टिमें शाह अकबर—

कविवर राजमल्लजी शाह अकबरके राज्यकालमें हुए हैं और कुछ वर्ष तक अकबरकी राजधानी आगरामें भी रहे हैं, जिसे अर्गलदुर्गके नामसे भी उल्लेखित किया गया है, और इससे उन्हें दिल्लीपति अकबर-

---

* विजहार्य ततो भूमौ श्रितो गन्धकुटीं जिनः।
मगधादिमहादेशमथुरादिपुरीस्तथा ॥१२-११६॥
कुर्वन् धर्मोपदेशं स केवलज्ञानलोचनः।
वर्षाष्टादशपर्यन्तं स्थितस्तत्र जिनाधिपः ॥-१२०॥
ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात्।
कर्माष्टकविनिर्मुक्तः शाश्वतानन्तसौख्यभाक् ॥-१२१॥

को कुछ निकटसे देखनेका भी अवसर प्राप्त हुआ है। आप अकबरको बड़ी ऊंची दृष्टिसे देखते थे और उसे अद्भुत उदयको प्राप्त तथा दयालुके रूपमें पाते थे। आपकी नज़रमें अकबर नामका ही अकबर नहीं था, बल्कि गुणोंमें भी अकबर (महान्) था, और इसलिये यह उसकी सार्थक संज्ञा थी*—'जलालदीन' नाम तथा 'ग़ाज़ी' उपपदसे भी उसका उल्लेख किया गया है। अकबरकी राज्यव्यवस्था कैसी थी और उसकी प्रजा कितनी सुखी थी, इसका कुछ अनुभव वैराटनगरके उस वर्णनसे भले प्रकार हो सकता है जो कविवरने लाटीसंहिताके ४८ काव्योंमें किया है और जिसका कुछ संक्षिप्त सार ऊपर लाटीसंहिताके निर्माण-स्थानके वर्णन (पृष्ठ २६) में दिया जाचुका है। जब राज्यका एक नगर इतना सुव्यवस्थित और सुखसमृद्धिसे पूर्ण था तब स्वयं राजधानीका नगर आगरा कितना सुव्यवस्थित और सुखसमृद्धिसे पूर्ण होगा, इसकी कल्पना विज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं। कविवरने तो, आगरा नगरका संक्षेपतः वर्णन करते हुए और उसे 'नगराऽधिपाऽधिपति' तथा 'समस्तवस्त्वाकर' बतलाते हुए, सांकेतिकरूपमें इतना ही कह दिया है कि—'राजनीतिके महामार्गको छोड़कर जो लोग उन्मार्गगामी या अमार्गगामी थे उनका निग्रह होनेसे—राजनीतिके विरुद्ध उनकी प्रवृत्तिके छूटजानेसे—और साधुवर्गोंका वहाँ संग्रह होनेसे वह नगर 'सारसंग्रह' के रूपमें है। अकबर बादशाहके यशरूपी चन्द्रमासे दिन दिन वृद्धिको प्राप्त हुए 'महासमुद्र'स्वरूप इस नगरोंके सरताज (राजा) आगरेका वर्णन मैं कैसे करूं ! :—

"राजनीतिमहामार्गादुत्पथाऽपथगामिनाम् ।
निग्रहात्साधुवर्गाणां संग्रहात्सारसंग्रहम् ॥४२॥

---

* अथास्ति दिल्लीपतिरद्भुतोदयो दयान्वितो बब्बर-नन्द-नन्दनः ।
अकब्बरः श्रीपदशोभितोऽमितो न केवलं नामतयार्थतोऽपि यः ॥५॥
—जम्बूस्वामिचरित

"राज्ञो यशः शशाङ्केन वर्द्धमानं दिनं दिनम् ।
वर्णयामि कथं चैनं नगरेशं महार्णवम् ॥४४॥

—प्रथम सर्ग

इस परसे यह सहजमें ही समझा जा सकता है कि अकबर राजनीतिका कितना भारी पण्डित था, उसको अमली जामा पहनानेमें कितना दक्ष था और साथ ही प्रजाकी सुख-समृद्धिकी ओर उसका कितना लक्ष्य था। 'जज़िया' करको उठा देना, जिससे हिन्दू पिसे जारहे थे, और शराबको बन्द कर देना भी उसकी राजनैतिक दूरदृष्टिता तथा प्रजाहितके कार्य थे। शराबबन्दीके अकबर उद्देश्यको व्यक्त करते हुए कविवरने साफ लिखा है कि—'शराबसे प्रमत्तधी (पागल) हुआ मनुष्य प्रमादमें पड़कर कुधर्मवर्गोंमें प्रवृत्त होता है, इसलिये वह पापकी कारण है—प्रजामें पापों (गुनाहों)की वृद्धि करनेवाली है—इसीसे उसको बन्द किया गया है* ।'

लाटीसंहितामें वैराटनगरका वर्णन करनेके अनन्तर अकबरकी 'चगत्ता' (चग़ताई) जाति और उसके पितामह 'बाबर' बादशाह तथा पिता 'हुमायूँ' बादशाहका कीर्तन करके अकबरके विषयमें जो दो काव्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं :—

तत्पुत्रोऽजनि सार्वभौमसदृशः प्रोद्यत्प्रतापानल-
ज्वालाजालमतल्लिकाभिरभितः प्रज्वालितारिव्रजः ।
श्रीमत्साहिशिरोमणिस्त्वकबरो निःशेषशेषाधिपैः
नानारत्नकिरीटकोटिघटितैः स्रग्भिः श्रितांह्रिद्वयः ॥६१॥

श्रीमड्डिंडीरपिण्डोपमितमितनभः पाण्डुराखण्डकीर्त्या-
क्रुष्टं ब्रह्माण्डकाण्डं निजभुजयशसा मण्डपाडम्बरोऽस्मिन् ।

---

* देखो, पूर्वमें (पृ० ३८ पर) उद्धृत जम्बूस्वामिचरितके प्रथम सर्गका पद्य नं० २६ ।

येनाऽसौ पातिसाहिः प्रतपदकबरप्रख्यविख्यातकीर्ति-
र्जीयाद्भोक्ताथ नाथः प्रभुरिति नगरस्यास्य वैराटनाम्नः ॥६२॥

इनमें अकबरको सार्वभौम-सदृश—चक्रवर्ती सम्राट्के समान—तथा शाहशिरोमणि बतलाते हुए लिखा है—'कि उसके बढ़ते हुए प्रतापानलकी ज्वालाओंसे शत्रुसमूह सब ओरसे भस्म होगया है और जो राजा अवशेष रहे हैं उन सबकी मालाओं तथा रत्नजडित मुकुटोंसे उसके चरण सेवित हैं। उसकी कीर्ति अखण्ड है, समुद्रफेनके समान धवल है, आकाशके समान विशाल है और उसके द्वारा इस (वैराट) नगरमें ब्रह्माण्डकाण्ड (विश्वका बहुत बड़ा समूह) खिंच आया है।' साथ ही, उस विख्यात-कीर्ति प्रतापी अकबरको वैराट नगरका भोक्ता, नाथ और प्रभु बतलाते हुए उसे जयवन्त रहनेका आशीर्वाद दिया गया है।

जम्बूस्वामिचरितमें तो मंगलाचरणके अनन्तर ही ५वें पद्यसे ३१वें पद्य तक अकबरका स्तवन किया गया है, जिसमें उसकी जाति, वंश और पूर्वजोंके वर्णनके साथ-साथ उसकी बाल्यावस्था, युवावस्था तथा चित्तौड़ (चित्रकूट) विजय और सूरतके दुर्जयदुर्गसहित गुजरात-विजयका संक्षिप्त वर्णन भी आगया है। जज़िया करको छोड़ने और शराबबन्दीकी बातका भी इसीमें समावेश है। इस सब वर्णनमें अकबरको अद्‌भुतोदय, दया-न्वित, श्रीपदशोभित, वरमति, साम्राज्यराजद्वपु, तेजःपुञ्जमय, शशीव दीप्त और विदांवर जैसे विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि उद्‌धृत वीरकर्म करते हुए भी उसमें दयालुता स्वाभाविक थी, क्रमसे अथवा युगपत् नवों रसोंके सेवनकी अचिन्त्य शक्ति थी, उसने बन्धुबुद्धिसे प्रजाका उसी तरह पालन किया है जिस तरह कि इन्द्र स्वर्गके देवोंका पालन करता है। उसका 'कर' जगतके लिये दुष्कर नहीं था। किसी भी कारणको पाकर उसे मद नहीं हुआ और 'इसका वध करो' यह वचन तो स्वभावसे ही उसके मुँहसे कहीं निकला नहीं, और इसलिये वह इस

समय सुधर्मराजकी तरह वर्तमान है अथवा उसका राज्य सुधर्मराज्य है।' और अन्तमें अकबरके मान-दानादि असंख्यगुणोंका पूरा स्तवन करनेमें अपनेको असमर्थ बतलाते हुए लिखा है कि—'यह दिग्मात्ररूपसे जो कथन किया है वह उसी प्रकारका है जिस प्रकार कि समुद्रसे अञ्जलिमें जल-ग्रहण किया जाता है। इस वर्णनके कुछ पद्य, जो काव्यरससे भरे हुए हैं, इस प्रकार हैं :—

"अस्ति स्म चाद्यापि विभाति जातिः परा चगत्ताभिधया पृथिव्याम्।
परंपराभूरिव भूपतीनां महान्वयानामपि माननीया ॥६॥
तदत्र जातावपि जातजन्मनः समेकछत्रीकृतदिग्वधूवरान्।
प्रकाशितुं नालमिहानुभूभुजः कवीन्द्रवृंदो लसदिन्दुकीर्तिः॥७॥
अतः कुतश्चित्कुनसाहिसंज्ञकः स माननीयो विधिवद्विपश्चिताम्
यथा कथा बाबर-वंशमाश्रिता प्रकाश्यते सद्भिरथो निरन्तरम्॥८॥
सुश्रीर्बाबरपातिसाहिरभवन्निर्जित्य शत्रून्बलाद्
दिल्लीशोऽपि समुद्रवारिवसनां क्षोणीं कलत्रायताम्।
कुर्वन्नेकबलो दिगंगजमलं क्रीडन् यथेच्छं विभुः
स्याद्भूपालकपालमौलिशिखरस्थायीव स्रग्यद्यशः ॥९॥
तत्पुत्रोऽजनि भानुमानिव गिरेराक्रम्य भूमंडलम्
भूपेभ्यो करमाहरन्नपि धनं यच्छन् जनेभ्योऽधिकम्।
उद्गच्छुलवकरप्रतापतरसा मात्सर्यमब्धेरधः
प्रज्ञापालतया जडत्वमहरन्नाम्ना हुमाऊँ नृपः ॥१०॥
तत्सूनुः श्रियमुद्वहन् भुजबलादेकातपत्रो भुवि
श्रीमत्साहिरकब्बरो वरमतिः साम्राज्यराजद्वपुः।
तेजःपुञ्जमयो ज्वलज्ज्वलनजज्वालाकरालानलः
सर्वारीन् दहति स्म निर्दयमना उन्मूल्य मूलादपि ॥११॥

× × × ×

"गजाश्वपादातिरथादिकेषु यो मंत्रासिदुर्गद्रविणेषु कोटिषु।
लिलेख लेखां भवितव्यताश्रितो बलं स्वसाद्विक्रममात्रसंभवम्॥१४
लब्धावकाशादथवा प्रसंगाद्यतो हता दुर्जनकिंकराकराः।
तदत्र नामापि न गृह्यते मया लघुप्रहारो ननु पौरुषं कियत्॥१५
अथास्तिकिञ्चिद्यदि चित्रकूटकमुत्ख्यातिलेखीकृतचित्रकूटकम्।
अतोरणस्तम्भमवाप हेलया किमद्भुतं तत्र समानमानतः॥१६॥
जगर्ज गाजी गुजरातमध्यगो मृगाधिपादप्यधिकः प्रभावतः।
मदच्युतो वैरिगजस्तदानीमितस्ततो याति पलायमानः॥१७॥
ततोऽपि धृत्वा गिरिगह्वरादितः श्रिता वधं केचन बन्धनं क्षणात्।
महाहयो मंत्रबलादिवाहताः प्रपेतुरापन्निधिसंनिधानके ॥१८॥
न केवलं दिग्विजयेऽस्य भूभृतां सहस्रखण्डैरिह भावितं भृशम्।
भुवोऽपि निम्नोन्नतमानयानया चलच्चमूभारभरातिमात्रतः ॥१९॥
अपि क्रमात्सूरतिसंज्ञको गिरेरपांनिधेः संनिधितः समत्सरः।
कदापि केनापि न खण्डितो यतस्ततोऽस्ति दुर्गो बलिनां हि दुर्जयः॥२०
अनेन सोऽपि क्षणमात्रवेगादनेकखण्डैः कृतजर्जरो जितः।
विलंघ्य वार्धिं रघुनाथवत्तया परं विशेषः कलिकौतुकादिव ॥२१॥

× × × ×

"तथाविधोऽप्युद्धतवीरकर्मणि दयालुता चाऽस्य निसर्गताऽभवत्।
क्रमेण युगपन्नवधा रसाः स्फुटमचिन्त्यचित्रा महतां हि शक्तयः॥२४॥
प्रपालयामास प्रजाः प्रजापतिरखण्डदण्डं यदखण्डमण्डलम्।
अखण्डलश्चण्डवपुः सुरालयं श्रितामरानेव स बन्धुबुद्धितः॥२५॥

× × × ×

"वधैनमेतद्वचनं तदास्यतो न निर्गतं क्वापि निसर्गतश्चितिः।
अनेन तद्द्यूतमुदस्तमेनसः सुधर्मराजः किल वर्ततेऽधुना॥२८॥

× × × ×

"अशेषतः स्तोतुमलं न मादृशो समामदानाद्विगुणानसंख्यतः ।
तत्तोऽस्य दिग्मात्रतयाशितुं क्षमे पयोधितो वा जलमञ्जलिस्थितम्॥३०
चिरं-चिरंजीव चिरायुरायतौ प्रजाशिषः सन्तसमप्रिमाप्रिमम् ।
यथाभिनन्दुर्वसुधा सुधाधिपं कलाभिरेनं परया मुदा मुदे ॥३१॥
—जम्बू० प्रथमसर्ग

इस सब कथन परसे स्पष्ट है कि कविकी दृष्टिमें अकबर कितना महान् था और वह अपने गुणोंके कारण कविके हृदयपर कितना अधिकार किये हुए था। अपनी इस महानता और प्रजावत्सलताके कारण ही उसे कविके शब्दोंमें प्रजाके 'चिरं-चिरंजीव' और 'चिरायुरायतौ' जैसे आशीर्वाद निरन्तर बड़ी प्रसन्नताके साथ प्राप्त होते रहते थे।

छन्दोविद्या (पिङ्गल)—

इस ग्रन्थका भी सर्वप्रथम दर्शन मुझे देहलीके एक शास्त्रभण्डारकी प्रतिपरसे हुआ है। सन् १९४१ के शुरूमें मैंने इसका प्रथम परिचय 'अनेकान्त'के पाठकोंको दिया था और उस समय इसकी दूसरी प्रति खोजनेकी खास प्रेरणा भी की थी। परन्तु दूसरे शास्त्रभण्डारोंमें इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं होरही है—मुनिश्री पुण्यविजयजी पाटन(गुजरात) आदिको लिखकर श्वेताम्बर शास्त्रभण्डारोंमें भी खोज कराई गई किन्तु कहीं भी इस ग्रन्थके अस्तित्वका पता नहीं चला। अतः देहलीको कविराजमल्लके दूसरे दो ग्रन्थों (लाटीसंहिता और जम्बूस्वामिचरित) की तरह इस ग्रन्थकी भी सुरक्षाका श्रेय प्राप्त है। और इसलिये ग्रन्थका परिचय देनेसे पहले मैं इस ग्रन्थप्रतिका परिचय करा देना उचित समझता हूँ। यह ग्रन्थप्रति देहलीके पंचायती मन्दिरमें मौजूद है। इसकी पत्र-संख्या सिली हुई पुस्तकके रूपमें २८ है, पहले पत्रका प्रथम पृष्ठ खाली है, २८ वें पत्रके अन्तिम पृष्ठपर तीन पंक्तियाँ हैं—उसके शेष भागपर किसीने बादको छन्दविषयक कुछ नोट कर रक्खा है और मध्यके १८ वें पत्रके प्रथम

पृष्ठपर लिखते समय १७वें पत्रके द्वितीय पृष्ठकी छाप लग जानेके कारण वह खाली छोड़ा गया है। पत्रकी लम्बाई ८३ और चौड़ाई ५३ इंच है। प्रत्येक पृष्ठपर प्रायः २० पंक्तियाँ है, परन्तु कुछ पृष्ठोंपर २१ तथा २२ पंक्तियाँ भी हैं। प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर-संख्या प्रायः १४ से १८ तक पाई जाती है, जिसका औसत प्रति पंक्ति १६ अक्षरोंका लगानेसे ग्रन्थकी श्लोक-संख्या ५५० के करीब होती है। यह प्रति देशी रफ़ कागजपर लिखी हुई है और बहुत कुछ जीर्ण-शीर्ण है, सील तथा पानीके कुछ उपद्रवोंको भी सहे हुए है, जिससे कहीं कहीं स्याही फैल गई है तथा दूसरी तरफ़ फूट आई है और अनेक स्थानोंपर पत्रोंके परस्परमें चिपक जानेके कारण अक्षर अस्पष्टसे भी हो गये हैं। हालमें नई सूचीके वक्त जिल्द बँधालेने आदिके कारण इसकी कुछ रक्षा होगई है। इस ग्रंथप्रति पर यद्यपि लिपिकाल दिया हुआ नहीं है, परन्तु वह अनुमानतः दोसौ वर्षसे कमकी लिखी हुई मालूम नहीं होती। यह प्रति 'महम' नामके किसी ग्रामादिकमें लिखी गई है और इसे 'स्यामराम भोजग' ने लिखाया है; जैसा कि इसकी "महममध्ये लिपावितं स्यामरामभोजग॥" इस अन्तिम पंक्तिसे प्रकट है।

कविवरकी मौलिक कृतियोंके रूपमें जिन चार ग्रन्थोंका अभी तक परिचय दिया गया है वे सब संस्कृत भाषामें हैं; परन्तु यह ग्रंथ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी इन चार भाषाओंमें है, जिनमें भी प्राकृत और अपभ्रंश प्रधान हैं और उनमें छन्दशास्त्रके नियम, छन्दोंके लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं; संस्कृतमें भी कुछ नियम, लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं और ग्रन्थके प्रारम्भिक सात पद्य तथा समाप्ति-विषयक अन्तिम पद्य भी संस्कृत भाषामें हैं, शेष हिन्दीमें कुछ उदाहरण हैं और कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जो अपभ्रंश तथा हिन्दीके मिश्रितरूप जान पड़ते हैं। इस तरह इस ग्रन्थ परसे कविवरके संस्कृत भाषाके अतिरिक्त दूसरी भाषाओंमें रचनाके अच्छे नमूने भी सामने आजाते हैं और उनसे

आपकी काव्यप्रवृत्ति एवं रचनाचातुर्य आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

छन्दोविद्याका निदर्शक यह पिङ्गलग्रन्थ राजा भारमल्लके लिये लिखा गया है, जिन्हें 'भारहमल्ल' तथा कहीं कहीं छन्दवश 'भारू' नामसे भी उल्लेखित किया गया है और जो लोकमें उस समय बहुत बड़े व्यक्तित्वको लिये हुए थे। छन्दोंके लक्षण प्रायः भारमल्लजीको सम्बोधन करके कहे गये हैं, उदाहरणोंमें उनके यशका खुला गान किया गया है और इससे राजा भारमल्लके जीवन पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है—उनकी प्रकृति, प्रवृत्ति, परिणति, विभूति, सम्पत्ति, कौटुम्बिक स्थिति और लोक-सेवा आदिकी कितनी ही ऐतिहासिक बातें सामने आजाती हैं। और इस तरह राजा भारमल्लका कुछ खण्ड इतिहास मिल जाता है, जो कविवर राजमल्ल जैसे विद्वानकी लेखनीसे लिखा होनेके कारण कोरा कवित्व न होकर कुछ महत्त्व रखता है। इससे विद्वानोंको दूसरे साधनों परसे राजा भारमल्लके इतिहासकी ओर और बातोंको खोजने तथा इस ग्रन्थपरसे उपलब्ध हुई बातों पर विशेष प्रकाश डालनेके लिये प्रोत्साहन मिलेगा और इस तरह राजा भारमल्लका एक अच्छा इतिहास तय्यार होसकेगा।

कविवरने, अपनी इस रचनाका सम्बन्ध व्यक्त करते हुए, मंगला-चरणादिकके रूपमें जो सात संस्कृत पद्य शुरूमें दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

केवलकिरणदिनेशं प्रथमजिनेशं दिवानिशं वंदे।
यज्ज्योतिषि जगदेतद्व्योम्नि नक्षत्रमेकमिव भाति ॥१॥

जिन इव मान्या वाणी जिनवरवृषभस्य या पुनः फणिनः।
वर्णादिबोधवारिधि-तराय पोतायते तरां जगतः ॥२॥

आसीन्नागपुरीयपट्टनिरतः साक्षात्तपागच्छमान्।
सूरिः श्रीप्रभुचन्द्रकीर्तिरवनौ मूर्द्धाभिषिक्तो गणी।
तत्पट्टे त्विह मानसूरिरभवत्तस्यापि पट्टेऽधुना
संसम्राडिव राजते सुरगुरुः श्रीहर्ष(र्ष)कीर्तिर्महान् ॥३॥

श्रीमच्छ्रीमालकुले समुदयदुदयाद्रिदेवद[त्त]स्य ।
रबिरिव राँक्यांणाकृते व्यदीपि भूपालभारमल्लाह्वः ॥४॥
भूपतिरितिसुविशेषणमिदं प्रसिद्धं हि भारमल्लस्य ।
तत्किं संघाधिपतिर्वणिजामिति वक्ष्यमाणेपि ॥५॥
अन्येद्युः कुतुकोल्वणानि पठता छंदांसि भूयांसि भो
सूनोः श्रीसुगसंज्ञकस्य पुरतः श्रीमालचूडामणेः ।
ईषत्तस्य मनीषितं स्मितमुखात्संलक्ष्य पद्मान्मया
दिग्मात्रादपि नामपिङ्गलमिदं धार्ष्ट्यादुपक्रम्यते ॥६॥
चित्रं महद्यदिह मान-धनो यशस्ते
छंदोमयं नयति यत्कविराजमल्लः ।
यद्वाद्रयोपि निजसारमिह द्रवन्ति
पुण्यादयामयतनोस्तव भारमल्ल ॥७॥

इनमेंसे प्रथम पद्यमें प्रथमजिनेन्द्र (आदिनाथ) को नमस्कार किया गया है और उन्हें 'केवलकिरणदिनेश' बतलाते हुए लिखा है कि 'उनकी ज्ञानज्योतिमें यह जगत् आकाशमें एक नक्षत्रकी तरह भासमान है।' अपनी लाटीसंहिताके प्रथम पद्यमें तीर्थंकर महावीरको नमस्कार करते हुए भी कविवरने यही भाव व्यक्त किया है, जैसा कि उसके "यच्चिचति विश्वमशेषं व्यदीपि नक्षत्रमेकमिव नभसि" इस उत्तरार्धसे प्रकट है। साथ ही, उसमें महावीरका विशेषण 'ज्ञानानन्दात्मानं' लिखकर ज्ञानके साथ आनन्दको भी जोड़ा है। लाटीसंहिताके प्रथम पद्यमें छंदोविद्याके प्रथम पद्यका जो यह साहित्यिक संशोधन और परिमार्जन दृष्टिगोचर होता है उससे ऐसी ध्वनि निकलती हुई जान पड़ती है कि, कविकी यह कृति लाटीसंहिताके कुछ पूर्ववर्तिनी होनी चाहिये * बशर्ते कि लाटीसंहिताके निर्माणसे पूर्व नागपुरीय-तपागच्छके भट्टारक हर्षकीर्ति पट्टारूढ़ हो चुके हों।

---

* लाटीसंहिताका निर्माणकाल आश्विनशुक्ला दशमी वि० सं० १६४१ है।

दूसरे पद्यमें प्रथम जिनेन्द्र श्रीवृषभ(आदिनाथ)की वाणीको जिनदेवके समान ही मान्य बतलाया है, और फणीकी वाणीको अक्षरादिबोधसमुद्रसे पार उतरनेके लिये नौकाके समान निर्दिष्ट किया है।

तीसरे पद्यमें यह निर्देश किया है कि आजकल हर्षकीर्ति नामके साधु सम्राट्की तरह राजते हैं, जो कि मानसूरि † के पट्टशिष्य और उन श्रीचंद्रकीर्तिके प्रपट्टशिष्य हैं जो कि नागपुरीय पक्ष (गच्छ) के साक्षात् तपागच्छी साधु थे।

चौथे-पाँचवें पद्योंमें बतलाया है कि—श्रीमालकुलमें देवदत्तरूपी उदयाचलके सूर्यकी तरह भूपाल भारमल्ल उदयको प्राप्त हुए और वे राँक्याणों—राक्याणगोत्रवालों*—के लिये खूब दीप्तमान् हुए हैं। भारमल्लका 'भूपति (राजा)' यह विशेषण सुप्रसिद्ध है, वे वणिक संघके अधिपति हैं।

छठे पद्यमें, अपनी इस रचनाके प्रसंगको व्यक्त करते हुए, कविजी लिखते हैं कि—'एक दिन मैं श्रीमालचूडामणि देवपुत्र (राजा भारमल्ल) के सामने बहुतसे कौतुकपूर्ण छंद पढ़ रहा था, उन्हें पढ़ते समय उनके

---

† पूरा नाम 'मानकीर्ति' सूरि है। ये भट्टारक वैशाख-शुक्ला सप्तमी सं० १६३३ से पहले ही पट्टारूढ़ हो चुके थे; क्योंकि इस तिथिको इनके शिष्य मुनि अमीपालने सिन्दूरप्रकरण ग्रन्थकी एक प्रति अपने लिये लिखाई है; जैसाकि उसकी निम्न प्रशस्तिसे प्रकट है—

"संवत १६३३ वर्षे वैशाखमासे शुक्लपक्षे सप्तम्यां तिथौ शुक्रवारे लेखक-पाठकयोः शुभं भवतु। तैलाद्‍ ··पुस्तिका। श्रीमन्नागपुरीय-तपागच्छाधिराज-भट्टारक-श्रीमानकीर्तिसूरि-सूरिपुरंदराणां शिष्येण मुनिना अमीपालेन स्वाध्ययनाय लिखापिता इब्राहिमाबादे।" (देखो, अमृतलाल मगनलाल शाहका 'प्रशस्तिसंग्रह' द्वि० भा० पृ० १३२।

* वक्खाणिए गोत विक्खात राक्याणि एतस्स ॥१६८॥

मुखकी मुस्कराहट और दृष्टिकटाक्ष (आँखोंके संकेत) परसे मुझे उनके मनका भाव कुछ मालूम पड़ गया, उनके उस मनोभिलाषको लक्ष्यमें रखकर ही दिग्मात्ररूपसे यह नामका 'पिंगल' ग्रन्थ धृष्टतासे प्रारम्भ किया जाता है।'

सातवें पद्यमें कविवर अपने मनोभावको व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

'हे भारमल्ल ! मान-धनका धारक कविराजमल्ल यदि तुम्हारे यशको छंदोबद्ध करता है तो यह एक बड़े ही आश्चर्यकी बात है। अथवा आप तेजोमय शरीरके धारक हैं, आपके पुण्यप्रतापसे पर्वत भी अपना सार बहा देते हैं।'

इस पिछले पद्यसे यह साफ ध्वनित होता है कि कविराजमल्ल उस समय एक अच्छी ख्याति एवं प्रतिष्ठाप्राप्त विद्वान् थे, किसी क्षुद्र स्वार्थके वश होकर कोई कवि-कार्य करना उनकी प्रकृतिमें दाखिल नहीं था, वे सचमुच राजा भारमल्लके व्यक्तित्वसे—उनकी सत्प्रवृत्तियों एवं सौजन्यसे—प्रभावित हुए हैं, और इसीसे छंदशास्त्रके निर्माणके साथ साथ उनके यशको अनेक छंदोंमें वर्णन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं।

यहाँ एक बात और भी जान लेनेकी है और वह यह कि, तीसरे पद्यमें जिन 'हर्षकीर्ति' साधुका उनकी गुरु-परम्पराके साथ उल्लेख किया गया है वे नागौरी तपागच्छके आचार्य थे, ऐसा 'जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' नामक गुजराती ग्रन्थसे जाना जाता है। मालूम होता है भारमल्ल इसी नागौरी तपागच्छकी आम्नायके थे, जो कि नागौरके रहनेवाले थे, इसीसे उनके पूर्व उनकी आम्नायके साधुओंका उल्लेख किया गया है। कवि राजमल्लने अपने दूसरे दो ग्रन्थों (जम्बूस्वामिचरित्र तथा लाटीसंहिता) में काष्ठासंघी माथुरगच्छके आचार्योंका उल्लेख किया है, जिनकी आम्नायमें वे श्रावकजन थे जिनकी प्रार्थनापर अथवा जिनके लिये उक्त ग्रंथोंका निर्माण किया गया है। दूसरे दो ग्रंथ (अध्यात्मकमलमार्तण्ड और पंचाध्यायी) चूंकि किसी व्यक्तिविशेषकी प्रार्थनापर या उसके लिये नहीं

लिखे गये हैं ‡ इसलिये उनमें किसी आम्नायविशेषके साधुओंका वैसा कोई उल्लेख भी नहीं है। और इससे एक तत्त्व यह निकलता है कि कवि राजमल्ल जिसके लिये जिस ग्रंथका निर्माण करते थे उसमें उसकी आम्नाय-के साधुओंका भी उल्लेख कर देते थे, अतः उनके ऐसे उल्लेखोंपरसे यह न समझ लेना चाहिये कि वे स्वयं भी उसी आम्नायके थे। बहुत संभव है कि उन्हें किसी आम्नायविशेषका पक्षपात न हो, उनका हृदय उदार हो और वे साम्प्रदायिककट्टरताके पङ्कसे बहुत कुछ ऊंचे उठे हुए हों।

कविराजमल्लने दूसरे ग्रन्थोंकी तरह इस ग्रन्थमें भी अपना कोई खास परिचय नहीं दिया—कहीं कहीं तो 'मल्ल भणइ' 'कविमल्ल कहै' जैसे वाक्यों द्वारा अपना नाम भी आधा ही उल्लेखित किया है। जान पड़ता है कविवर जहाँ दूसरोंका परिचय देनेमें उदार थे वहाँ अपना परिचय देने-में सदा ही कृपण रहे हैं, और यह सब उनकी अपने विषयमें उदासीन-वृत्ति एवं ऊंची भावनाका द्योतक है जिसकी शिक्षा उन्हें 'समयसार' परसे मिली जान पड़ती है—भले ही इसके द्वारा इतिहासज्ञोंके प्रति कुछ अन्याय होता हो।

उक्त सातों संस्कृत पद्योंके अनन्तर प्रस्तावित छन्दोग्रंथका प्रारम्भ निम्न गाथासे होता है :—

---

‡ पंचाध्यायीके विषयमें इस प्रकारका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है। और अध्यात्मकमलमार्तंडके तृतीय चतुर्थ पद्योंसे प्रकट है कि उसकी रचना मुख्यतः अपने आत्मज्ञानके लिये और अपने आत्मासे संतान-वर्ती मोहको तथा उस सम्यक्चरित्रकी च्युतिको दूर करनेके लिए की गई है जो दर्शन-ज्ञानसे युक्त और मोह-क्षोभसे विहीन होता है। इसके लिये 'विदधे स्वसंविदे' और 'गच्छत्वध्यात्म-कंज-द्युमणि-परपरा-ख्यापनान्मे चितोऽस्तम्' ये वाक्य खास तौरसे ध्यानमें रखने योग्य हैं।

दीहो संजुत्तवरो बिंदुजुओ यालिओ (?) वि चरणंते।
स गुरू वंकदुमत्तो अण्णो लहु होइ शुद्ध एकअलो ॥८॥

इसमें गुरु और लघु अक्षरोंका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—'जो दीर्घ है, जिसके परभागमें संयुक्त वर्ण है, जो बिन्दु (अनुस्वार-विसर्ग) से युक्त है, ···पादान्त है वह गुरु है, द्विमात्रिक है और उसका रूप वक्र (ऽ) है। जो एकमात्रिक है वह लघु होता है और उसका रूप शुद्ध—वक्रतासे रहित सरल (।)—है।'

इसी तरह आगे छन्दशास्त्रके नियमों, उपनियमों तथा नियमोंके अपवादों आदिका वर्णन ६४ वें पद्य तक चला गया है, जिसमें अनेक प्रकारसे गणोंके भेद, उनका स्वरूप तथा फल, षण्मात्रिकादिका स्वरूप और प्रस्तारादिकका कथन भी शामिल है। इस सब वर्णनमें अनेक स्थलोंपर दूसरोंके संस्कृत-प्राकृत वाक्योंको भी "अन्ये यथा" "अण्णे जहा" जैसे शब्दोंके साथ उद्धृत किया है, और कहीं बिना ऐसे शब्दोंके भी। कहीं कहीं किसी आचार्यके मतका स्पष्ट नामोल्लेख भी किया गया है। जैसे:—

"···पयासिओ पिंगलायरहि ॥२०॥"
"अह चउमत्तह णामं फणिराओ पइगणं भणई···२८"
"एहु कहइ कुरु पिंगलणागः···४६।"
"सोलहपए···आ जो जाणइ णाइराइभणियाइं।
सो छंदसत्थकुसलो सव्वकईणं च होइ महणीओ ॥४३॥
आद्या झेयेति मात्राणां पताका पठिता बुधैः।
श्रीपूज्यपादपादाभिर्म्मता हि(ही)ह विवेकिभिः ।।

इससे मालूम होता है कि कविराजमल्लके सामने अनेक प्राचीन छन्दशास्त्र मौजूद थे—श्रीपूज्यपादाचार्यका ग्रालबन वह छन्दशास्त्र भी था जिसे श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ४० में उनकी सूक्ष्मबुद्धि (रचनाचातुर्य) को ख्यापित करनेवाला लिखा है—और उन्होंने उन

सबका दोहन एवं आलोडन करके अपना यह ग्रन्थ बनाया है। और इसलिये यह ग्रन्थ अपने विषयमें बहुत प्रमाणिक जान पड़ता है। ग्रन्थके अन्तिम पद्यमें इस ग्रन्थका दूसरा 'छन्दोविद्या' दिया है और इसे राजाओंकी हृदयगंगा, गम्भीरान्तः सौहित्या, जैनसंघाधीश-भारहमल्ल-सम्मानिता, ब्रह्मश्रीको विजय करनेवाले बड़े बड़े द्विजराजोंके नित्य दिये हुए सैंकड़ों आशीर्वादोंसे परिपूर्ण लिखा है। साथ ही, विद्वानोंसे यह निवेदन किया है कि वे इस 'छन्दोविद्या' ग्रन्थको अपने सदनुग्रहका पात्र बनाएँ। वह पद्य इस प्रकार है—

> क्षोणीभाजां हृत्सुरसरिदंभो गंभीरान्तःसौहित्यां
> जैनानां किल संघाधीशैर्भारहमल्लैः कृतसन्मानां।
> ब्रह्मश्रीविजई(यि)द्विजराज्ञां नित्यं दत्ताशीःशतपूर्णां
> विद्वांसः सदनुग्रहपात्रां कुर्वन्त्वेमां छन्दोविद्यां॥

इससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ समय अनेक राजाओं तथा बड़े बड़े ब्राह्मण विद्वानोंको भी बहुत पसन्द आया है।

पिङ्गलके पद्योंपरसे राजा भारमल्ल—

जिन राजा भारमल्लके लिये यह पिङ्गल ग्रन्थ रचा गया है वे नागौरी तपागच्छकी अम्नायके एक सद्गृहस्थ थे*, वणिक्संघके अधिपति थे, 'राजा' उनका सुप्रसिद्ध विशेषण था, श्रीमालकुलमें उन्होंने जन्म लिया था, 'रांक्याणि' उनका गोत्र था और वे 'देवदत्त' के पुत्र थे, इतना परिचय ऊपर दिया जा चुका है। अब राजा भारमल्लका कुछ अन्य ऐतिहा-

---

* आपके सहयोगसे तपागच्छ वृद्धिको प्राप्त हुआ था, ऐसा निम्न वाक्यसे स्पष्ट जाना जाता है—

> जलणिहि-उवमाणि श्रीतपानामगच्छिं,
> हिमकर जिम भूया भूपती भारमल्लः॥२६४॥ (मालिनी)

सिक परिचय भी संक्षेपमें संकलित किया जाता है, जो उक्त पिङ्गलग्रंथपरसे उपलब्ध होता है। साथमें यथावश्यक ऐसे परिचयके कुछ वाक्योंको भी ब्रेकटादिमें उनके छंदनाम-सहित उद्धृत किया जाता है, और इससे पिङ्गल-ग्रन्थमें वर्णित छंदोंके कुछ नमूने भी पाठकोंके सामने आजायँगे और उन परसे उन्हें इस ग्रंथकी साहित्यिक स्थिति एवं रचना-चातुरी आदिका भी कितना ही परिचय सहजमें प्राप्त हो जायगाः—

(१) भारमल्लके पूर्वज 'रंकाराऊ' थे, वे प्रथम भूपाल (राजपूत×) थे, पुनः श्रीमाल थे, श्रीपुरपट्टणके निवासी थे, फिर आबू देशमें गुरुके उपदेशको पाकर श्रावकधर्मके धारक हुए थे, धन-धर्मके निवास थे, संघके तिलक थे और सुरेन्द्रके समान थे। उन्हींकी वंश-परम्परामें धर्मधुरंधर राजा भारमल्ल हुए हैं—

पढमं भूपालं पुणु सिरिमालं सिरिपुरपट्टणवासु,
पुणु आबूदेसिं गुरुउवएसिं सावयधम्मणिवासु।
धणधम्महणिलयं संघहतिलयं रंकाराउ सुरिंदु,
ता वंशपरंर धम्मधुरंधर भारहमल्ल णरिंदु ॥११६॥ (मरहट्टा)

(२) भारमल्लकी माताका नाम 'धरमो' और स्त्रीका नाम 'श्रीमाला' था, इस बातको कविराजमल्ल एक अच्छे अलंकारिक ढंगमें व्यक्त करते हुए 'पंकवाणि' छन्दके उदाहरणमें लिखते हैं—

स्वाति बुंद सुरवर्ष निरंतर, संपुट सीपि धमो उदरंतर।
जम्मो मुकताहल भारहमल, कंठाभरण सिरीअवलीवल ॥८७॥

इसमें बतलाया है कि सुर (देवदत्त) वर्षाकी स्वातिबूंदको पाकर धर्मोके उदररूपी सीपसंपुटमें भारमल्लरूपी मुक्ताफल (मोती) उत्पन्न हुआ

× जासु पढमइ वंस रजपूत। श्रीरंकवसुधाधिपति जैन, धर्म-वरकमल-दिनकर, तासु वंस राक्याणि सिरी,-मालकुलधुरधुरंधर।''॥१२३॥(रड्डु)

और वह श्रीमाला*का कण्ठाभरण बना। कितनी सुन्दर कल्पना है!

(३) भारमल्लके पुत्रोंमें एकका नाम 'इन्द्रराज' और दूसरेका 'अजयराज' था—

इन्द्रराज इन्द्रावतार जसु नंदनु दिट्ठं,
अजयराज राजाधिराज सब कज्जगरिट्ठं।
स्वामी दास निवासु लच्छिबहु साहिसमाणं,
सोयं भारहमल्ल हेम-हय-कुञ्जर-दानं ॥ १३१ ॥ (रोडक)

इन दोनों पुत्रोंके प्रतापादिका कितना ही वर्णन अनेक पद्योंमें दिया है। और भी लघुपुत्र अथवा पुत्रीका कुछ उल्लेख जान पड़ता है; परन्तु वह अस्पष्ट हो रहा है।

(४) राजा भारमल्ल नागौरमें एक बहुत बड़े कोट्याधीश ही नहीं किन्तु धनकुबेर थे, ऐसा मालूम होता है। आपके घरमें अटूट लक्ष्मी थी, लक्ष्मीका प्रवाह निरन्तर बहता था, सवा लाख प्रतिदिनकी आय थी, देश-

---

*श्रीमालाके अलावा भारहमल्लकी एक दूसरी स्त्री 'छजू' जान पड़ती है, जो इन्द्रराज पुत्रकी माता थी; जैसा कि उत्तराध्ययनवृत्तिकी निम्न दानप्रशस्ति-से प्रकट है और जिसमें भारहमल्लको 'संघई', उनकी स्त्री छजूको संघवणि और पुत्र इन्द्रराजको संघवी लिखा है। यह भी सम्भव है कि छजू श्रीमाला का ही नामान्तर अथवा मूल नाम हो; परन्तु ग्रन्थमें (त्रिभंगी छंदके उदाहरणमें) 'मत सौकि सुनावहु' इसे वाक्य-द्वारा श्रीमालाकी सौतका संकेत होनेसे यह सम्भावना कुछ कम जान पड़ती है:—

"श्रीमत् नृप विक्रमतः संवत् १६३६ वर्षे पातिसाह श्री अकबरराज्ये श्री बइराटनगरे श्रीमालज्ञातीय संघइ भारहमल। तत् भार्या संघवणि छजू तत् पुत्ररत्न संघवी इन्द्राराजेन स्वपुण्यार्थं वृत्तिरियं विहरापिता। गणिचरित्रोदयानां चिरं नन्दतु॥"—उक्त प्रशस्तिसंग्रह द्वि०भाग पृ० १२६

देशान्तरोंमें लाखोंका व्यापार चलता था। साँभरकी झील, और अनेक भू-पर्वतोंकी खानोंके आप अधिपति थे। सम्भवतः टकसाल भी आपके हाथमें थी। आपके भण्डारमें पचास करोड़ सोनेका टका—अशर्फियाँ मौजूद मानी जाती थीं। दानके भी आप पूरे धनी थे। अकबर बादशाह आपका सम्मान करता था, इतना ही नहीं बल्कि आपकी आन तक मानता था, और इसीसे आप धन तथा प्रतिष्ठामें अकबरके समान ही समझे जाते थे। इन सब बातोंके आशयको लिये हुए अनेक पद्य विविध छंदोंके उदाहरणोंमें पाये जाते हैं। दो चार पद्योंको यहाँ नमूनेके तौर पर उद्धृत किया जाता है—

"रांक्याणिपसिद्धो लच्छिसमिद्धो भूपति भारहमल्लं,
धम्मह उक्किट्ठउ दाणगरिट्ठउ दिट्ठउ राणा(?)अरिउरसल्लं।
वरवंमह बब्बर साहि अकब्बर सब्बरकियसम्माणं,
हिंदू तुरिकाणा तउरि गाणा राया माणहि आणं॥११७(गरिट्ठ)'

"कोडिय पंच मुकाति लियो बहु देस निरग्गल,
सांभर सर डिंडवान अवनि टकमार समग्गल।
भू-भूधर-दर-उदर खनित अगणित धनसंगति,
देवतनय सिरिमाल सुजस भारहमल भूपति॥१२६॥" (वस्तु)

'अयं भारमल्लो सिरीमालवंसि,
गृहे सासई लच्छि कोटी सहस्सं।
सवालक्ख टंका उवइ भानुमित्ती,
सिरीसाहिसम्माणिया जासु कित्ती॥१६८॥" (भुजंगप्रयात)

"नागौरदेसम्हि संघाधिनाथो सिरीमाल,
राक्याणिवंसि सिरी भारमल्लो महीपाल।
साकुंभरीनाथ थप्पो सिरी साहि संमाणि,
राजाधिराजोबमा चक्कवट्टी महादाणि॥१७०॥ (गजानंद)'

"देवदत्तकुलकमलदिवाकर सुजसु पयासियं,
सिरीमालचरवंस अवनिपत्ति पुहमि विकासियं।
सांभरि सर डिंडवान सकलधर खानि वखाणियं,
भारहमल्ल विमलगुण अकबरसाहि समाणियं ॥१७२॥(गिंदुक)
जासु [य] वुट्ठि होइ णवणिधि घर कामिणि कणक-कुंजरं,
मंगल गीत विनोद विविह परि दुंदुहिसद सुन्दरं।
सवालक्ख उप्पजइ दिनप्रति तेत्तियं दिनदानियं,
भारमल्ल सब साहसिरोमणि साहिअकब्बरमाणियं ॥१७४(दुवई)
"तौ मानियहि भंडार, टंका कोडि पचास जइ, कलधौतमयं।
लाखनिसहु व्योहार, तो कविजन सेवक अहव, देवतणमयं १६६
(चूलिकाचारण छंद)

(५) जिन स्थानोंसे राजा भारमल्लको विपुल धन-सम्पत्तिकी प्राप्ति होती थी उनका उल्लेख 'मालाधर' छंदके उदाहरणमें निम्न प्रकारसे किया गया है—

चरणयुग-सेविका मनहु दासी साकुंभरी[†]
अखिल यहु चेटिका सरस डीडवाना पुरी।
अवनि अनुकूलिया द्रविण-मोल-लीया नगा,
निखिलमिय जस्स सो जयउ भारमल्लो णिओ ॥२७१॥

(६) राजा भारमल्लके रोजाना खर्चका मोटा लेखा लगाते हुए जो 'छप्पय' छंदका उदाहरण दिया है वह निम्न प्रकार है, और उससे मालूम

[†] साकुम्भरी, डीडवानापुरी और मुकातसर इन तीन स्थानों पर तीन टकसालें भी थीं ऐसा सुन्दरी छंदके निम्न उदाहरणसे प्रकट है:—

डिडिवान मुकातासर सहियं साकुम्भरि सौं टकसार तयं।
णि भारहमल्लं अरिउरसल्लं साहि सनाखत कित्तिमयं ॥

होता है कि राजा भारमल्ल (औसतन) पचास हजार टका प्रतिदिन बादशाह (अकबर) के खजानेमें दाखिल करते थे, पचास हजार टका मजदूरों तथा नौकरोंको बाँटते थे और पचीस हजार टका उनके पुत्रों-पौत्रादिकोंका प्रतिदिनका खर्च था—

सवालक्ख उगावइ भानु तह झानु गणिज्जइ,
टंका सहस पचास साहि भंडारु भरिज्जइ।
टंका सहस पचास रोज जे करहिं मसक्कति,
टंका सहस पचीस सुतनुसुत खरचु दिन-प्रति।
सिरिमाल वंस संघाधिपति बहुत बढे सुनियत श्रवण।
कुलतारण भारहमल्ल-सम कौन बढउ चढिहै कवण ॥१२८॥

(७) राजा भारमल्ल अच्छी चुनी हुई चतुरंग सेना रखते थे, जिसमें उनकी हाथियोंकी सेनाको घूमती हुई गंधहस्तियोंकी सेना लिखा है—

"घुम्मंतगंधगयवरसेना इय भारमल्लस्स ॥१७८॥

(८) राजा भारमल्लकी जोड़का कोई दूसरा ऐसा वणिक (व्यापारी) शायद उस समय (अकबरके राज्यमें) मौजूद नहीं था जो बड़भागी होनेके साथ साथ विपुल लक्ष्मीसे परिपूर्णगृह हो, करुणामय प्रकृतिका धारक हो और नित्य ही बहुदान दिया करता हो। आपका प्रभाव भी बहुत बढ़ा चढ़ा था, अकबर बादशाहका पुत्र राजकुमार (युवराज) भी आपके दरबारमें मिलनेके लिये आता था और सूचना भेजकर इस बातकी प्रतीक्षामें रहता था कि आप आकर उसकी 'जुहारु' (सलाम) कबूल करें। इन दोनों बातोंको कविवरने दोहा और सोरठा छंदोंके उदाहरणोंमें निम्न प्रकारसे व्यक्त किया है। पिछली बात ऐसे रूपमें चित्रित की गई है जैसे कविवरकी स्वयं आँखों-देखी घटना है—

"बड़भागी घर लच्छि बहु, करुणामय दिनदान।
नहिं कोउ बसुधावधि वणिक, भारहमल्ल-समान १८८॥" (दोहा)

"ठाड़े तो दरबार, राजकुँवर बसुधाधिपति।
लीजे न-इकु जुहारु, भारमल्ल सिरिमालकुल १६४॥"(सोरठा)

(९) इस ग्रन्थमें राजा भारमल्लको श्रीमालचूडामणि, साहिशिरोमणि, शाहसमान, उमानाथ, संघाधिनाथ, दारिद्रधूमध्वज, कीर्तिनभचन्द्र, देव-तरुसुरतरु, श्रेयस्तरु, पतितपावन, पुण्यागार, चक्री-चक्रवर्ती, महादानी, महामति, करुणाकर, रोरुहर, रोरु-भी-निकन्दन, अकब्बरलक्ष्मी-गौ-गोपाल, जिनवरचरणकमलानुरक्त और निःशल्य जैसे विशेषणोंके साथ स्मरण किया गया है और उनका खुला यशोगान करते हुए प्रशंसामें—उनके दान-मान प्रतापादिके वर्णनमें—कितने ही पद्य अनेक छंदोंके उदाहरणरूपसे दिये हैं। यहाँ उनमेंसे भी कुछ पद्योंको नमूनेके तौर पर उद्धृत किया जाता है। इससे पाठकोंको राजा भारमल्लके व्यक्तित्वका और भी कितना ही परिचय तथा अनुभव प्राप्त हो सकेगा। साथ ही, इस छंदोविद्या-ग्रन्थके छंदोंके कुछ और नमूने भी उनके सामने आजायँगे:—

अवणिउवण्णा पादप रे, वदनरवण्णा पंकज रे।
चरणगवण्णा गजपत्ति रे, नैनसुरंगा सारंग रे।
तनुरुहचंगा मोरा रे, वचनअभंगा कोकिल रे।
तरुणि-पियारा बालक रे, गिरिजठरविदारा कुलिसं रे।
अरिकुलसंघारा रघुपति रे, हम नैनहु दिट्ठा चंदा रे।
दानगरिट्ठा विक्रम रे, मुख चवै सुमिट्ठा अमृत रे ॥१०७॥

न न पादप-पंकज-गजपति-सारंग-मोरा-कोकिल-बाल-तुलं,
न न कुलिसं रघुपति चंदा नरपति अमृत किमुत सिरीमालकुलं।
बकसै गजराजि गरीबनिवाज अवाज सुराज विराजतु है,
संघपत्ति सिरोमणि भारहमल्लु विरद्दु भुवप्पति गाजतु है (पोमावती)

इन पद्योंमें राजा भारमल्लको पादप, पंकज, गजपति सारंग (मृग) मोर, कोकिल, बालक, कुलिश (वज्र), रघुपति, चंद्रमा, विक्रमराजा और

अमृतसे, अपने अपने विषयकी उपमामें, बढ़ा हुआ बतलाया है—अर्थात् यह दर्शाया है कि ये सब अपने प्रसिद्ध गुणोंकी दृष्टिसे राजा भारमल्लकी बराबरी नहीं कर सकते।

बलि-वेणि-विक्रम-भोज-रविसुत-परसराम-समंचिया,
हय-कनक-कुंजर-दान-रस-जसबेलि अहनिसि सिंचिया।
तब समय सतयुग समय त्रेता समय द्वापर गाइया,
अब भारमल्ल कृपाल कलियुग कुलहँ कलश चढ़ाइया ॥(हरिगीत)

यहाँ राजा बलि, वेणि, विक्रम, भोज, करण और परशुरामके विषयमें यह उल्लेख करते हुए कि उन्होंने घोड़ों, हाथियों तथा सोनेके दानरूपी रससे यश-बेलको दिनरात सिंचित किया था, बतलाया है कि—उनका वह समय तो सतयुग, त्रेता तथा द्वापरका था; परन्तु आज कलियुगमें कृपालु राजा भारमल्लने उन राजाओंके कीर्तिकुलगृह पर कलश चढ़ा दिया है—अर्थात् दानद्वारा सम्पादित कीर्तिमें आप उनसे भी ऊपर होगये हैं—चढ़ गये हैं।

सिरिमाल सुवंसो पुहमि पसंसो संघनरेसुर धम्मधुरो,
करुणामयचित्तं परमपवित्तं हीरविजे गुरु जासु वरो।
हय-कुंजर-दानं गुणिजन-मानं कित्तिसमुद्दह पार थई,
दिनदीन दयालो वयणरसालो भारहमल्ल सुचक्कवई ॥ (सुन्दरी)

इसमें अन्य सुगम विशेषणोंके साथ भारमल्लके गुरुरूपमें हीरविजयसूरिका उल्लेख किया है, भारमल्लकी कीर्तिका समुद्र पार होना लिखा है और उन्हें 'सुचक्रवर्ती' बतलाया है।

मण्णे विहिणा घडियो, कोविह एगो वि विस्ससव्वगुणकाय।
सिरिमालभारमल्लो, णं माणसथंभो णरगव्वहरणाय ॥ (स्कंध)

यहाँ कविवर उत्प्रेक्षा करके कहते हैं कि 'मैं ऐसा मानता हूँ कि विधाता ने यदि विश्वके सर्वगुण-समूहको लिये हुए कोई व्यक्ति घड़ा है तो

वह श्रीमाल भारमल्ल है, जो कि मनुष्योंके गर्वको हरनेके लिये 'मानस्तभ' के समान है।'

सिरिभारमल्लदिग्गमणि-पायं सेवंति एयमणा।
तेसिं दरिद्दतिमिरं णियमेण विणस्सदे सिग्घं ॥१५६॥(विग्गाहा)

इसमें बतलाया है कि 'जो एकमन होकर भारमल्लरूपी दिनमणि (सूर्य) की पादसेवा करते हैं उनका दरिद्रान्धकार नियमसे शीघ्र दूर होजाता है।

प्रहसितवदनं कुसुमं सुजसु सुगंधं सुदानमकरंदं।
तुव देवदत्तनंदन धावति कविमधुपसेणि मधुलुद्धा॥ (उग्गाहा)

यहाँ यह बतलाया है कि—'देवदत्तनन्दन-भारमल्लका प्रफुल्लित मुख ऐसा पुष्प है जो सुयश-सुगंध और सुदानरूपी मधुको लिये हुए है, इसीसे मधुलुब्ध कवि-भ्रमरोंकी पंक्ति उसकी ओर दौड़ती है—दानकी इच्छासे उसके चारों ओर मँडराती रहती है।

षाण † सुलितान मसनंद हदभुम्मिया,
सज्ज-रह-वाजि-गज-राजि मदघुम्मिया।
तुज्झ दरबार दिनरत्ति तुरगा णाया,
देव सिरिमालकुलनंद करिए मया॥२६१॥ (निशिपाल)

इसमें खान, सुलतान, मसनद और सजे हुए रथ-हाथी-घोड़ोंके उल्लेखके साथ यह बतलाया है कि राजा भारमल्लके दरबारमें दिनरात तुरक लोग आकर नमस्कार करते थे—उनका ताँतासा बंधा रहता था।

एक सेवक संग साहि भँडार कोडि भरिज्जिए,
एक कित्ति पढंत भोजिग दान धाइम दिज्जिए।
भारमल्ल-प्रताप-वण्णण सेसणाह असक्कओ,
एकजीहमओ अमारिस केम होइ ससक्कओ॥२७४॥ (चचरी)

---

† ग्रन्थ-प्रतिमें अनेक स्थानोंपर 'ख' के स्थानपर 'ष' का प्रयोग पाया जाता है तदनुसार यहाँ 'षाण' लिखा है।

इस पद्यमें भारमल्लके प्रतापका कीर्तन करनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए लिखा है कि—'एक नौकरको साथ लेकर एक करोड़ तककी रकम शाहके भंडारमें भरदी जाती थी—मार्गमें रकमके छीन लिये जाने आदिका कोई भय नहीं! और एक कीर्ति पढ़ने वाले भोजकीको दायिमी (स्थायी) दान तक दे दिया जाता था—ऐसा करते हुए कोई संकोच अथवा चिन्ता नहीं! (ये बातें भारमल्लके प्रतापकी सूचक हैं)। भारमल्लके प्रतापका वर्णन करनेके लिये (सहस्रजिह्व) शेषनाग भी असमर्थ है, हमारे जैसा एक जीभवाला कैसे समर्थ हो सकता है?'

अब छन्दोंके उदाहरणोंमें दिये हुए संस्कृत पद्योंके भी कुछ नमूने लीजिये, और उनपरसे भी राजा भारमल्लके व्यक्तित्वादिका अनुमान कीजिये :—

अयि विधे! विधिवत्तव पाटवं यदिह देवसुतं सृजत स्फुटं।
जगति सारमयं करुणाकरं निखिलदीनसमुद्धरणक्षमं ॥(द्रुतविलं०)

'हे विधाता! तेरी चतुराई बड़ी व्यवस्थित जान पड़ती है, जो तूने यहाँ देवसुत-भारमल्लकी सृष्टि की है, जो कि जगतमें सारभूत है, करुणाकी खानि है और सम्पूर्ण दीनजनोंका उद्धार करनेमें समर्थ है।'

मन्ये न देवतनुजो मनुजोऽयमेव,
नूनं विधेरिह दयार्द्रितचेतसो वै।
जैवित्त (जीवत्व?) हेतुवशतो जगती-जनानां,
श्रेयस्तरुः फलितवानिव भारमल्लः ॥२५६॥ (वसंततिलक)

यहाँ कविवर उत्प्रेक्षा करके कहते हैं कि—'मैं ऐसा मानता हूँ कि यह देवतनुज भारमल्ल मनुज नहीं है, बल्कि जगतजनोंके जीवनार्थ विधाताका चित्त जो दयासे आर्द्रित हुआ है उसके फलस्वरूप ही यह 'कल्याणवृक्ष' यहाँ फला है—अर्थात् भारमल्लका जन्म इस लोकके

वर्तमान मनुष्योंको जीवनदान देने और उनका कल्याण साधनेके लिये विधाताका निश्चित विधान है।'

सत्यं जाड्यतमोहरोऽपि दिनकृज्जन्तोर्दृशोरप्रिय-
श्चन्द्रस्तापहरोऽपि जाड्यजनको दोषाकरोंशुक्षयी।
निर्दोषः किल भारमल्ल ! जगतां नेत्रोत्पलानंदकृ-
च्चन्द्रेणोष्णकरेण संप्रति कथं तेनोपमेयो भवान् ॥२७६॥ (शार्दूल)

'यह सच है कि सूर्य जडता और अंधकारको हरनेवाला है; परन्तु जीवोंकी आँखोंके लिये अप्रिय है—उन्हें कष्ट पहुँचाता है। इसी तरह यह भी सच है कि चन्द्रमा तापको हरनेवाला है; परन्तु जड़ता उत्पन्न करता है, दोषाकर है (रात्रिका करनेवाला अथवा दोषोंकी खान है) और उसकी किरणें क्षयको प्राप्त होती रहती हैं। भारमल्ल इन सब दोषोंसे रहित है, जगज्जनोंके नेत्रकमलोंको आनन्दित भी करने वाला है। इससे हे भारमल्ल ! आप वर्तमानमें चन्द्रमा और सूर्यके साथ उपमेय कैसे हो सकते हैं ? आपको उनकी उपमा नहीं दी जा सकती—आप उनसे बढ़े चढ़े हैं।'

अलं विदितसंपदा दिविज-कामधेन्वाह्वयैः,
कृतं किल रसायनप्रभृतिमंत्रतंत्रादिभिः।
कुतश्चिदपि कारणादथ च पूर्णपुण्योदयात्,
यदीह सुरनंदनो नयति मां हि दृग्गोचरं ॥२६१॥ (पृथ्वी)

'किसी भी कारण अथवा पूर्णपुण्यके उदयसे यदि देवसुत भारमल्ल मुझे अपनी दृष्टिका विषय बनाते हैं तो फिर दिव्य कामधेनु आदिकी प्रसिद्ध सम्पदासे मुझे कोई प्रयोजन नहीं और न रसायण तथा मंत्रतंत्रादिसे ही कोई प्रयोजन है—इनसे जो प्रयोजन सिद्ध होता है उससे कहीं अधिक प्रयोजन अनायास ही भारमल्लकी कृपादृष्टिसे सिद्ध हो जाता है।'

क्षितिपतिकृतसेवं यस्य पादारविन्दं,
निजजन-नयनालीभृंगभोगाभिरामं ।
जगति विदितमेतद्भूरिलक्ष्मीनिवासं,
स च भवतु कृपालोऽप्येष मे भारमल्लः ॥२६५॥ (मालिनी)

'जिनके चरणकमल भूपतियोंसे सेवित हैं और स्वकीयजनोंकी दृष्टि-पंक्तिरूपी भ्रमरोंके लिये भोगाभिराम हैं, और जो इस, जगतमें महालक्ष्मी-के निवासस्थान हैं, ऐसे ये भारमल्ल मुझपर 'कृपाल' होवें ।'

पिछले दोनों पद्योंसे मालूम होता है कि कविराजमल्ल राजाभारमल्ल-की कृपाके अभिलाषी थे और उन्हें वह प्राप्त भी थी। ये पद्य मात्र उसके स्थायित्वकी भावनाको लिये हुए हैं।

(१०) जब राजा भारमल्ल इतने बढ़े चढ़े थे तब उनसे ईर्षाभाव रखनेवाले और उनकी कीर्ति-कौमुदी एवं ख्यातिको सहन न करनेवाले भी संसारमें कुछ होने ही चाहियें; क्योंकि संसारमें अदेखसका भावकी मात्रा प्रायः बढ़ी रहती है और ऐसे लोगोंसे पृथ्वी कभी शून्य नहीं रही जो दूसरोंके उत्कर्षको सहन नहीं कर सकते तथा अपनी दुर्जन-प्रकृतिके अनुसार ऐसे बढ़े चढ़े सज्जनोंका अनिष्ट और अमंगल तक चाहते रहते हैं। इस सम्बन्धमें कविवरके नीचे लिखे दो पद्य उल्लेखनीय हैं, जो उक्त कल्पनाको मूर्तरूप दे रहे हैं :—

"जे वेस्सवग्गमणुआ रीसिं कुव्वंति भारमल्लस्स ।
देवेहि वंचिया खलु अभगाऽवित्ता णरा हुंति ॥१५८॥"(गाहा)

"चिंतंति जे वि चित्ते अमंगलं देवदत्तणयस्स ।
ते सव्वलोयदिट्ठा णट्ठा पुरदेसलच्छिभुम्मिपरिचत्ता ॥(गाहिणिया)

पहले पद्यमें बतलाया गया है कि—'वैश्यवर्गके जो मनुष्य भारमल्ल की रीस करते हैं—ईर्षाभावसे उनकी बराबरी करते हैं—वे दैवसे ठगाये गये अथवा भाग्यविहीन हैं; ऐसे लोग अभागी और निर्धन होते हैं।'

दूसरे पद्यमें यह स्पष्ट घोषित किया है कि—'जो चित्तमें भी देवदत्तपुत्र-भारमल्लका अमंगल चिन्तन करते हैं वे सब लोगोंके देखते-देखते पुर, देश, लक्ष्मी तथा भूमिसे परित्यक्त हुए नष्ट हो गये हैं।' इस पद्यमें किसी खास आँखोंदेखी घटनाका उल्लेख संनिहित जान पड़ता है। हो सकता है कि राजा भारमल्लके अमंगलार्थ किन्हींने कोई षड्यन्त्र किया हो और उसके फलस्वरूप उन्हें विधि(दैव)के अथवा बादशाह अकबरके द्वारा देशनिर्वासनादिका ऐसा दण्ड मिला हो जिससे वे नगर, देश, लक्ष्मी और भूमिसे परिभ्रष्ट हुए अन्तको नष्ट होगये हों।

उपसंहार—

इस प्रकार यह कविराजमल्लके 'पिंगलग्रन्थ', ग्रन्थकी उपलब्धप्रति और राजा भारमल्लका संक्षिप्त परिचय है। मैं चाहता था कि ग्रन्थमें आए हुए छंदोंका कुछ लक्षण-परिचय भी पाठकोंके सामने तुलनाके साथ रक्खूं परन्तु यह देखकर कि प्रस्तावानाका कलेवर बहुत बढ़ गया है और इधर इस पूरे ग्रन्थको ही अब वीरसेवामंदिरसे प्रकाशित कर देनेका विचार हो रहा है, उस इच्छाको संवरण किया जाता है।

इस परिचयके साथ कविराजमल्लके सभी उपलब्ध ग्रन्थोंका परिचय समाप्त होता है। इन ग्रन्थोंमें कविराजमल्लका जो कुछ परिचय अथवा इतिवृत्त पाया जाता है उस सबको इस प्रस्तावनामें यथास्थान संकलित किया गया है। और उसका सिंहावलोकन करनेसे मालूम होता है कि:—

कविवर काष्ठासंघी माथुरगच्छी पुष्करगणी भट्टारक हेमचन्द्रकी आम्नायके प्रमुख विद्वान हैं। जम्बूस्वामिचरितको लिखते समय (वि० सं० १६३२में) वे आगरामें स्थित हैं, युवावस्थाको प्राप्त हैं दो एक वर्ष पहले मथुराकी एक दो बार यात्रा कर आए हैं और वहाँके जीर्ण-शीर्ण तथा उनके स्थान पर नवनिर्मित जैन स्तूपोंको देख आए हैं, जैनागम-ग्रन्थोंके अच्छे अभ्यासी हैं, आध्यात्मिक ग्रन्थोंके अध्ययनसे उनका आत्मा ऊँचा उठा

हुआ है, वे धार्मिक भावनाओंसे प्रेरित हैं, परोपकारके लिये बद्धकक्ष अथवा कृतसंकल्प हैं और जम्बूस्वामिचरितकी रचनाके बहाने अपने आत्माको पवित्र करनेमें लगे हुए हैं। साथ ही, गद्य-पद्य-विद्याके विशारद हैं, काव्यकलामें प्रवीन हैं और उनका कोई अच्छा कविकार्य पहलेसे जनताके सामने आकर पसन्द किया जा चुका है; इसीसे मथुरामें जैनस्तूपोंकी प्रतिष्ठाके समय(सं० १६३१ में) उनसे जम्बूस्वामिचरितके रचनेकी खासतौर पर प्रार्थना की गई है। आगरामें रहते हुए, मथुरा-जैनस्तूपोंका जीर्णोद्धार करानेवाले अग्रवालवंशी गर्गगोत्री साहु टोडरका उन्हें सदाश्रय तथा सत्संग प्राप्त हैं और उन्हींके निमित्तको पाकर वे कृष्णामंगल चौधरी और गढमल्ल साहु जैसे कुछ बड़े राज्याधिकारियों तथा सज्जनपुरुषोंके निकट परिचयमें आए हुए हैं। साथ ही अकबर बादशाहके प्रभावसे प्रभावित है, मंगलाचरणके अनन्तर ही उनका स्तवन कर रहे हैं, उनके राज्यको सुधर्मराज्य मान रहे हैं और उनकी राजधानी आगरा नगरको 'सारसंग्रह' के रूपमें देख रहे हैं।

आगरासे चलकर कविवर नागौर पहुँचे हैं, वहाँ श्रीमालज्ञातीय संघाधिपति (संघई) राजाभारमल्लके व्यक्तित्वसे बहुत प्रभावित हुए हैं, उनके दान-सम्मान तथा सौजन्यमय व्यवहारने उन्हें अपनी ओर इतना आकृष्ट कर लिया है कि वे अपने व्यक्तित्वको भी भूल गये हैं। एक दिन राजा भारमल्लको बहुतसे कौतुकपूर्ण छंद सुनाकर वे उनके विनोदमें भाग ले रहे हैं और उनकी तदनुकूल रुचिको पाकर उनके लिये 'पिङ्गल'नामके एक गंगाजमुनी छन्दशास्त्रकी रचना कर रहे हैं, जो प्रायः उसी कौतुकपूर्ण मनोवृत्ति तथा विनोदमय स्पिरिटको लिये हुए है और जिसमें अनेक अतिशयोक्तियों एवं अलंकारोंके साथ राजा भारमल्लका खुला यशोगान किया गया है और इस यशोगानको करते हुए वे स्वयं ही उसपर अपना आश्चर्य व्यक्त कर रहे हैं और उसे भारमल्लके व्यक्तित्वका प्रभाव बतला रहे हैं।

नागौरसे किसी तरह विरक्त होकर कविवर स्वयं ही वैराट नगर पहुँचे हैं और उसे देखकर बड़े प्रसन्न हुए हैं। यह नगर उनको बहुत पसन्द ही

नहीं आया बल्कि सब प्रकारसे अपने अनुकूल जँचा है। इसीसे वे अन्तको यहीं स्थित हो गये हैं और यहाँके अतीव दर्शनीय वैराट-जिनालयमें रहने लगे हैं, जहाँ संभवतः काष्ठासंघी भट्टारक क्षेमकीर्ति—जैसे कुछ जैन मुनि उस समय निवास करते थे और जो अक्सर जैन साधुओंकी निवासभूमि बना रहता था। यहाँ उन्हें मुनिजनोंके सत्समागम तथा ताल्हू जैसे विद्वान् की गोष्ठीके अलावा अग्रवालवंशी मंगलगोत्री साहु फामनका सत्सहाय एवं सत्संग प्राप्त है, उनके दान-मान-आसनादिकसे वे सन्तुष्ट हैं और उन्हींकी प्रार्थनापर उन्हींके जिनालयमें स्थित होकर एक सत्कविके रूपमें लाटीसंहिता-की रचना कर रहे हैं। इस रचनाके समय (वि० सं० १६४१ में) उनकी लेखनी पहलेसे अधिक प्रौढ तथा गंभीर बनी हुई है, उनका शास्त्राभ्यास तथा अनुभव बहुत बढ़ाचढ़ा नज़र आता है और वे सरल तथा मृदूक्तियों-द्वारा युक्तिपुरस्सर लिखनेकी कलामें और भी अधिक कुशल जान पड़ते हैं। लाटीसंहिताका निर्माण करते हुए उनके हृदयमें पंचाध्यायी नामसे एक ऐसे '**ग्रन्थराज**' के निर्माणका भाव घर किये हुए है जिसमें धर्मका सरल तथा कोमल उक्तियों द्वारा सबके समझने योग्य विशद तथा विस्तृत विवेचन हो। और उसे पूरा करनेके लिये वे संभवतः लाटीसंहिताके अनन्तर ही उसमें प्रवृत्त हुए जान पड़ते हैं, जिसके फलस्वरूप ग्रन्थके प्रायः दो प्रकरणोंको वे लिख भी चुके हैं। परन्तु अन्तको दैवने उनका साथ नहीं दिया, और इसलिये कालकी पुकार होते ही वे अपने सब संकल्पोंको बटोरते हुए उस **ग्रन्थराजको** निर्माणाधीन-स्थितिमें ही छोड़कर स्वर्ग सिधार गये हैं !! अध्यात्मकमलमार्तण्डको वे इससे कुछ पहले बना चुके थे, और वह भी उनके अन्तिम जीवनकी रचना जान पड़ती है।

इसके सिवाय, आगरा पहुँचनेसे पहलेके उनके जीवनका कोई पता नहीं। यह भी मालूम नहीं कि ये आगरा कबसे कब तक ठहरे, कहाँ कहाँ होते हुए नागौर पहुँचे तथा इस बीचमें साहित्यसेवाका कोई दूसरा काम उन्होंने किया या कि नहीं। और न उन बातोंका ही अभी तक कहींसे कोई

पता चला है जिन्हें प्रस्तावनाके पृष्ठ ३४ पर नोट किया गया है, अतः ये सब विद्वानों के लिये खोजके विषय हैं। संभव है इस खोजमें कविवरके और भी किसी ग्रन्थरत्नका पता चल जाय।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि कुछ विद्वान 'रायमल्ल' नामसे भी हुए हैं, जिन्हें कहीं कहीं 'राजमल्ल' भी लिखा है; जैसे (१) हुंबड़ ज्ञातीय वर्णी रायमल्ल, जिन्होंने वि० सं० १६६७ में भक्तामर स्तोत्रकी साधारण संस्कृत टीका लिखी है। और (२) मूलसंघी भट्टारक अनन्तकीर्तिके शिष्य ब्रह्म रायमल्ल, जिन्होंने वि० सं० १६१६में 'हनुमान-चौपई' और सं० १६३३में 'भविष्यदत्त-कथा' हिन्दीमें लिखी है। ये ग्रन्थकार अपने साहित्यादिकपरसे लाटीसंहितादि उक्त पाँचों मूल ग्रन्थोंके कर्ता कविराजमल्लसे तथा समयसारनाटककी निर्दिष्ट हिन्दीटीकाके कर्ता पाँडे(पं०) राजमल्लसे भी बिल्कुल भिन्न हैं। इसी तरह संवत् १६१५में पं०पद्मसुन्दरके द्वारा निर्मित 'रायमल्लाभ्युदय' नामका काव्यग्रन्थ जिन 'रायमल्ल'के नामाङ्कित किया गया है उनका भी 'कविराजमल्ल'के साथ कोई मेल नहीं है—वे हस्तिनागपुरके निकटवर्ती चरस्थावर (चरथावल) नगरके निवासी गोइलगोत्री अग्रवाल 'साहु रायमल्ल' हैं; जो दो स्त्रियोंके स्वामी थे, पुत्र-कुटुम्बादिकी विपुल सम्पत्तिसे युक्त थे और उन्होंने श्रीपद्मसुन्दरजीसे उक्त चतुर्विंशतिजिनचरित्रात्मक काव्यग्रन्थका निर्माण कराया है। और इसलिये कविराजमल्लके ग्रन्थों तथा उनके विशेष परिचयकी खोजमें नामकी समानता अथवा सदृशताके कारण किसीको भी धोखेमें न पड़ना चाहिये—साहित्यकी परख (अन्तःपरीक्षण), रचनाशैलीकी जाँच, पारस्परिक तुलना और संघ तथा आम्नाय आदिका ठीक सम्बन्ध मिलाकर ही कविराजमल्लके विषयका कोई निर्णय करना चाहिये।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
ता० ११-१-१९४५

जुगलकिशोर मुख्तार

सम्पादकीय

—+*****+—

(१) सम्पादन और अनुवाद—

आजसे कोई सतरह साल पहले मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोर जीने 'कवि राजमल्ल और पंचाध्यायी' शीर्षक अपने लेखमें इस 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' ग्रन्थके उपलब्ध होनेकी सूचना की थी, जिससे इसके प्रति जनताकी जिज्ञासा बढ़ी थी। उसके कोई नौ वर्ष बाद (विक्रम सं० १९९३ में) यह ग्रन्थ पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री, एम० ए० द्वारा संशोधित होकर माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थ-मालामें 'जम्बूस्वामीचरित' के साथ प्रकाशित हुआ था।

ग्रन्थकी भाषा संस्कृत होनेके साथ साथ प्रौढ और दुरूह होनेके कारण शायद ही कुछ लोगोंका ध्यान इसके पठन-पाठन और प्रचार-प्रसारकी ओर गया हो। और इस तरह यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ सर्वसाधारण अध्यात्म-प्रेमियोंके स्वाध्यायकी चीज़ नहीं बन सका। और मेरे ख्यालसे प्राय: ग्रन्थगत-दुरूहताके ही कारण इसका अब तक अनुवादादि भी रुका पड़ा रहा। अस्तु,

अन्यत्र कहींसे भी इस ओर प्रयत्न होता हुआ न देख-कर और जनताको इस ग्रन्थ-रत्नके स्वाध्यायसे वञ्चित पाकर वीर-सेवा-मन्दिरने यह उचित और आवश्यक समझा कि अनु-वादादिके साथ इसका एक उपयोगी और सुन्दर संस्करण निकाला जावे। तदनुसार यह कार्य मैंने और सुहृद्वर पं० परमा-नन्दजी शास्त्रीने अपने हाथोंमें लिया और इसे यथासाध्य शीघ्र सम्पन्न किया; परन्तु प्रेस आदि कुछ अनिवार्य कारणोंके वश यह कार्य इससे पहले प्रकाशमें न आ सका। अब यह पाठकोंके हाथोंमें जा रहा है, यह प्रसन्नताकी बात है।

(२) प्रति-परिचय—

यद्यपि इस ग्रन्थकी लिखित प्रति कोशिश करनेपर भी हमें प्राप्त न हो सकी। और इस लिये उक्त ग्रन्थमालामें मुद्रित प्रतिके आधारपर ही अपना अनुवाद और सम्पादनका कार्य करना पड़ा। इस प्रतिकी आधारभूत दो प्रतियोंका परिचय भी पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्रीने कराया है, जो वि०सं० १६६३ और वि० सं० १८४४ की लिखी हुई हैं और जो दोनों ही अशुद्ध बतलाई गई हैं। प्रस्तुत संस्करणकी आधारभूत उक्त छपी प्रतिमें भी कितनी ही अशुद्धियाँ पाई जाती हैं। इनका संशोधन प्रस्तुत संस्करणमें अर्थानुसन्धानपूर्वक यथासाध्य अपनी ओरसे कर दिया गया है और उपलब्ध अशुद्ध पाठको फुटनोटमें दे दिया गया है, जिससे पाठकगण उससे अवगत हो सकें।

(३) प्रस्तुत संस्करण-परिचय—

'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' जितना महत्वपूर्ण ग्रन्थ है शायद उतना सुन्दर यह संस्करण नहीं बन सका। फिर भी इस संस्करणमें मूल विषयको पाठ-शुद्धिके साथ अर्थ और भावार्थके द्वारा स्पष्ट करनेका भरसक प्रयत्न किया गया है। इसके अलावा फुटनोटोंमें ग्रन्थान्तरोंके कहीं कहीं कुछ उद्धरण भी दे दिये गये हैं। प्रस्तावना, विषयानुक्रमणिका और पद्यानुक्रमणी आदिकी भी संयोजना की गई है। और इन सबसे यह संस्करण बहुत कुछ उपयोगी बन गया है।

अन्तमें अपने सहृदय पाठकोंसे निवेदन है कि इस अनुवादादिमें कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो वे हमें सूचित करनेकी कृपा करें, जिससे अगले संस्करणमें उसका सुधार हो सके।

वीर-सेवा-मन्दिर,
सरसावा (सहारनपुर)
ता० ४-६-१९४४

दरबारीलाल
(न्यायाचार्य)

अध्यात्म-कमल-मार्तण्डकी

विषयानुक्रमणिका

विषय | पृष्ठ

विषय पृष्ठ

३. तृतीय-परिच्छेद